आचार्य्यवर्य्यचरणा अपि चारु रेजुः,
साद्धं बुधैः सकलशिष्यवरैः सभायाम् ।
प्रावाचि केनचन किं करणीयमत्र,
श्रीवैष्णवैः सविधि तत्कृपयादिशेति ॥ २ ॥

सभामें शिष्यों सहित श्रीमदाचार्यचरण भी विराजमान थे। किसीने जिज्ञासाकी कि हरिजनोंको किस-किस विधिसे क्या क्या करना चाहिये ॥ २ ॥

प्रार्थ्यं निशम्य करुणावरुणालयोऽसौ,
सर्वान् कृतार्थयितुमेवमनिन्द्यकीर्तिः ।
वक्तुं समारभत भागवताः सदैव,
श्रीवैष्णवैर्हरिजनैरितिवर्तितव्यम् ॥ ३ ॥

श्रीस्वामीजीमहाराजने इस प्रकारसे उपदेश देना आरम्भ किया। वैष्णवोंको इस प्रकारसे इस संसारमें वर्तना चाहिये ॥ ३ ॥

अस्याखिलस्य भुवनस्य परं विधाता,
भर्ता लयं गमयिता परमेश्वरोऽयम् ।
सर्वाभिरेव शुचिभक्तिभिराशुतोषः,
सेव्यो विभुः प्रतिपलं सकलैस्तदीयैः ॥ ४ ॥

सम्पूर्णब्रह्माण्डके बनानेवाले, पालन करनेवाले तथा नाशकरनेवाले केवल परमात्मा ही हैं। अतः नवविधभक्तियोंके द्वारा उन्हींकी सेवा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

ध्येयः स एव भगवाननिशं हृदब्जे,
भक्तैस्स्वभूः शिवगुणोऽव्यभिचारिभक्त्या ।

किन्त्वन्यदेवविषये मनसापि चिन्त्यो,
द्वेषः कदाचिदपि नैव तदीयभक्तैः ॥ ५ ॥

भगवद्भक्तजनोंको उचित है कि उन्हीं भगवान्‌का अव्यभिचारिणी भक्तिसे निरन्तर हृदयमें ध्यान करें तथा कभी भी, मनसे भी अन्य देवके विषयमें द्वेषबुद्धि न करें ॥ ५ ॥

जप्यः सदा गुरुपदाब्जमहाकृपातः,
श्रीराममन्त्र इह सर्वजनैरवाप्तः ।
नैमित्तिकानि सकलान्यपि किल्बिषाणि,
नित्यान्नपि श्लथयितुं नितरां समर्थः ॥ ६ ॥

सर्व हरिजनोंको चाहिये कि नित्य और नैमित्तिक समस्तपापोंको नष्ट करनेमें समर्थ, गुरुचरणोंकी महती कृपासे प्राप्त, श्रीराममन्त्रका सर्वदा जप करें ॥ ६ ॥

श्रीराममन्दिरमठाञ्जगतो हिताय,
कर्तुं च कारयितुमादरतोऽस्ति युक्तम् ।
तत्रागताः सहृदया हरिभक्तिरक्ताः,
स्नेहेन तेऽनुपधिना परिपूजनीयाः ॥ ७ ॥

संसार के कल्याणके लिये श्रीरामजीका मन्दिर तथा मठ बनवाना योग्य है । तथा उस मन्दिर और मठमें जो कोई विद्वान्, महात्मा अथवा प्रभुके भक्त आ जावें उन सबकी शुद्ध प्रेमसे पूजा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

यत्केवलं निजमहोदरपूरणाय,
निर्मापितं भवति राघवमन्दिरादि ।
एकाकिनो विहरणं तदपेक्षया स्या-
त्कल्याणकृन्मम मते भगवत्प्रपन्नाः ॥ ८ ॥

जो मन्दिर और मठादि केवल अपने मोटे पेटको भरनेके लिये ही बनाये जाते हैं, उनकी अपेक्षा तो उसका अकेला विचरना ही कल्याणकारक है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रचरणामलभक्तिलक्ष्म,
तत्प्रीतयेऽत्र तुलसीमणिगुम्फितैका ।
रम्या विमुक्तिफलिका निजकण्ठलग्ना,
माला शुभा हरिजनैस्सततं हि धार्या ॥ ९ ॥

श्रीरामजीकी भक्तिका चिह्नस्वरूप, भगवत्प्रसन्नताके लिये मुक्तिफलको देनेवाली श्रीतुलसीके मणियोंसे बनायी गयी हुई माला–कण्ठी सदा हरिभक्तोंको अपने कण्ठ में रखनी ही चाहिये ॥ ९ ॥

वाल्मीकिवक्त्रसरसीरुहसंप्रवृत्त-
वाणीविलासपरिशीलनमेव कार्यम् ।
कार्यः सदा हरिपदाम्बुजभक्तिगङ्गा-
पाथःपवित्रहृदयैरथ वेदपाठः ॥१०॥

भगवद्भक्तिरूपगङ्गाके जलसे पवित्र हृदयवालोंको श्रीमद्वाल्मीकिरामायणका अनुशीलन करना चाहिये । तथा नित्य वेदपाठ भी करना चाहिये ॥ १० ॥

नित्यं ललाटपटले शुभचित्रकूटा-
योध्याप्रयागविमलस्थलिकाभ्य एव ।
श्वेता मृदः शुभतमाश्च समाहृताश्चे-
त्ताभिः शिवं विरचनीयमथोर्ध्वपुण्ड्रम् ॥११॥

चित्रकूट, अयोध्या, प्रयागके निर्मल स्थानोंसे ही यदि परमपवित्रश्वेतमृत्तिका लायी हुई हो तो उससे श्रीसहित ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये ॥११॥

श्रीभारतीयवसुधा निखिलैव पूता,
तत्रापि देवसरिदादिनदीजलानि ।
काशीप्रयागभगवज्जनिभूगिरीन्द्रा,
एतानि पावकतमानि भजेत तस्मात् ॥१२॥

समस्त भारतवर्ष स्वयं ही पवित्र है। उसमें भी गङ्गा, सरयू आदि नदियोंका जल पवित्र है। एवं काशी, प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूटपर्वत आदि पवित्र हैं अतः उनमें निवास करना चाहिये ॥ १२ ॥

कौपीनधारणमहर्निशमेव कार्यं,
श्रीवैष्णवैः श्रुतिशिरोगतधर्मनिष्ठैः ।
काषायसंस्कृतमथान्यदपीह वस्त्रं,
धार्यं यथासमयमेव यथाप्रदेशम् ॥१३॥

विरक्त श्रीवैष्णवोंको कौपीन धारण करना चाहिये। तथा देशकालके अनुसार अन्यवस्त्र भी धारण कर लेना चाहिये ॥ १३ ॥

श्रीवैष्णवैर्हरिपदानुरतैर्विरक्तै-
स्त्याज्यः सदैव रमणीद्रविणादिमोहः ।
ये दुर्भगा विधिहता विषयेषु रक्ताः,
प्रेत्य व्रजन्ति नरके ननु रौरवे ते ॥१४॥

जो वैष्णव विरक्त हों उन्हें स्त्री और धनादिका मोह अवश्य छोड़ देना चाहिये। जो मूर्ख ऐसा नहीं करते वे मरकर रौरव नरकमें जाते हैं ॥ १४ ॥

आच्छोदनं विविधचौर्य्यमथापि लोप्त्र-
वस्तुग्रहो ग्लहपणौ च समाह्वयश्च ।

मद्यामिषाद्यभिरुचिर्बत धूमपानं,
त्याज्यानि वैष्णवजनैर्तिरामिमानि ॥१५॥

वैष्णवजनोंको शिकारखेलना, चोरी करना, चोरीका वस्तु लेना, द्यूतक्रीडा, पासा खेलना या किसी प्रकारका जूआ खेलना, मदिराभङ्गादिका सेवन करना, गांजा सूका तमाकू चरस आदिका पीना इत्यादि सब प्रकारके व्यसनोंको छोड़ देना चाहिये ॥ १५ ॥

वाच्यान्यरुन्तुदवचांसि कदापि नैव,
त्याज्यानि दम्भपरनिन्दनदुष्कृतानि ।
भद्राय रामचरणाम्बुरुहानुरक्तः,
सत्यव्रतं प्रतिदिनं परिपालनीयम् ॥१६॥

भगवान्के उपासकोंको चाहिये कि कभी मर्मच्छेदी वचन न बोलें। दम्भ, परनिन्दा और दुराचारका त्याग कर दें। अपने कल्याणकेलिये सर्वदा सत्यव्रतका परिपालन करें ॥ १६ ॥

श्रीमद्गुरौ च भगवत्यतितीव्रभक्ति-
योगं च वैष्णवजनेषु विनम्रभावम् ।
संस्थापयेत्स्वमनसि स्वहिताभिलाषी,
नानादरात्मकवचोभिरिमे हि योज्याः ॥१७॥

वैष्णवजनको उचित है कि धर्मात्मगुरुमें और भगवान्में तीव्र भक्तियोग करें। अन्यवैष्णवोंके साथ नम्रभावसे व्यवहार करें। अनादरयुक्तवचनोंसे कभी भी इन्हें नहीं बुलाना चाहिये ॥ १७ ॥

येषां मनःसरसिजे भगवत्पदाब्ज-
द्वन्द्वं समुल्लसति सर्वशिवप्रदायम् ।
तेषां समीपमभिगम्य बुधाः सुबोधं,
गृह्णन्तु नित्यमखिलान्धतमोदिनेशम् ॥१८॥

जिनके हृदयमें भगवत्पदारविन्द विराजमान हों उनके समीप जाकर ज्ञानको नित्य ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

पश्यत्सु सत्सु गुरुषु श्रितविष्णुपादै-
धार्ष्ट्यं विवेकविकलं किमपीह कार्यम् ।
कार्य्यं न कैश्चिदपि धर्मधुरीणदिष्ट-
सन्मार्गमीप्सुभिरिति श्रुतिचोदनास्ति ॥१९॥

विष्णुभक्तोंको चाहिये कि गुरुओंके समक्ष किसी प्रकारकी धृष्टता अथवा विवेकशून्य कोई भी कार्य न करें । ऐसी वेदाज्ञा है ॥ १९ ॥

विष्णोः सतां विरतिराज्यजुषां च साधोः,
स्युर्दर्शनानि सुखदानि यदा यदैव ।
बद्ध्वाञ्जलिं च विनमय्य निजोत्तमाङ्गं,
भव्याः सदा नतिततीस्तनुतैव तेषु ॥२०॥

श्रीविष्णुभगवान्‌का, साधुपुरुषका, वैराग्यवान् सज्जनोंका जब-जब दर्शन हो तब तब हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर प्रेमसहित सादरप्रणाम करना चाहिये ॥ २० ॥

प्रातः सदा हरिजनाः शयनात्स्मरेत,
रामं स्वकीयगुरुपातसरोजयुग्मम् ।
येन्येपि दृष्टिपथमभ्युपयन्तु पूज्याः,
सश्रद्धमानमत तानपि भद्रकामाः ॥ २१ ॥

हे हरिजनो ! प्रातःकाल सदा आसनपरसे उठकर श्रीरामजीका और तदनन्तर अपने गुरुचरणोंका स्मरण करो । उस समय अन्य जो कोई पूज्य तुम्हारी दृष्टिमें आवे उन्हें भी श्रद्धाके साथ पूज्यभावसे नमस्कार करो ॥ २१ ॥

एकासने स्वगुरुभिर्न समासनीयं,
नावं रथं गजमथाश्म विहाय काष्ठम् ।
आचार्य एव परतोऽपि परोऽस्ति देव-
स्तस्मात्प्रसादयत तं सततं शिवाय ॥ २२ ॥

नौका, रथ, हाथी, पत्थर और काष्टासनके अतिरिक्त गुरुके साथ एकासनपर कभी न बैठना चाहिये। आचार्य भगवत्स्वरूप होनेसे वह परात् पर देव है। अतः अपने आचार्य गुरुको सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ २२ ॥

ऊर्जस्वलोऽहमहमेव महान्त्समर्थो,
विद्वानहं द्रविणवानहमेव चात्र ।
एतादृशी निजसमृद्धिविकाशयित्री,
त्याज्या प्रयत्नपटलैः सुनरैरहन्ता ॥ २३ ॥

मैं ही बलवान् हूँ, मैं ही महान् समर्थ हूँ, मैं ही विद्वान् हूँ, मैं ही धनवान् हूँ, इस प्रकारका उन्नतिनाशक अहंकार छोड़ देना चाहिये ॥ २३ ॥

राज्ञां सतां च विदुषां महतां समक्षं,
श्लाघेत यो निजगुणं किल वावदूकः ।
पापेन सोऽधमतमो निहतो वराको,
दृष्ट्वा विशुद्ध्यति विभावसुमेव मूढः ॥२४॥

जो वावदूक, राजाओं, सज्जनों, विद्वानों और महापुरुषोंके सामने स्वयं अपने गुणोंका वर्णन करता है वह पापका मारा हुआ महानीच-पुरुष सूर्यका दर्शन करके शुद्ध होता है ॥ २४ ॥

ये ज्ञानभक्तिरहिता दुरितार्तिपृक्ता,
धौर्त्येन वञ्चयितुमत्र जगत्समस्तम् ।

मालाकराः कुमतयो विधृतोर्ध्वपुण्ड्रा,
वाचापि धर्मरिपवो न कदापि तेऽच्यर्याः ॥२५॥

जो ज्ञान और भक्तिसे शून्य हैं 'गीतापुस्तक हाथ साथ विश्वा माला विशाला गले' है और माथेमें तिलक लगा लिया है ऐसे छद्मवेषी धर्मके शत्रु वाणीमात्र से भी सत्कारके योग्य नहीं हैं ॥ २५ ॥

मित्रद्रुहो गुरुविरोधपरा नरा ये,
ये चापरस्य सुगुणेष्वपि दृष्टदोषाः ।
ये भ्रूणहिंसनविधौ परमं सुदक्षा,
हेयाश्च ते सपदि नारकिणः सदैव ॥ २६ ॥

जो मित्रके साथ द्रोह करनेवाले हैं, गुरुओंसे विरोध करते रहते हैं, दूसरोंके सुन्दर गुणोंमें भी दोष देखते हैं, भ्रूणहत्या करते हैं, ऐसे नारकी लोगोंका शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

यद्वस्तुजातमिह विष्णुपदेऽनिवेद्यं,
ग्राह्यं भवेन्न हि कदाचन वैष्णवैस्तत् ।
तेनाहिफेनविजयादिकमादकानि,
वस्तूनि हेयपदवीं सुतरां गतानि ॥ २७ ॥

जो वस्तु भगवान्‌के सम्मुख नैवेद्यरूपमें न रखा जा सके उस वस्तुका वैष्णवोंको कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये । अतः अफीम, भांग, आदि प्रत्येक मादकवस्तु भगवान्‌के अग्राह्य होनेसे वैष्णवोंकेलिये अत्यन्त अग्राह्य है ॥ २७ ॥

आरात्रिकं भवति यत्र हरेस्तु तत्र,
व्युत्थानमेव हरिभक्तजनैर्विधेयम् ।
ध्येयं च विष्णुपदकञ्जयुगं मनोज्ञ-
मन्ते प्रणत्य विरमेयुरपेतदोषाः ॥२८॥

जहाँ भगवान्‌की आरती होती हो वहाँ सबको खड़ा हो जाना चाहिये। भगवान्‌के चरणकमलका ध्यान करना चाहिये। पश्चात् साष्टांग प्रणाम करके स्वस्वकार्य करना चाहिये ॥ २८ ॥

भस्मान्तमित्यधिवचः श्रुतिसम्मतं य-
त्तस्माच्छरीरमिदमत्र यदा व्यसु स्यात्।
भस्मावशेषमखिलैः करणीयमेव,
नास्यं तदप्सु न वने न च भूमिगर्भे ॥२९॥

"भस्मान्तं शरीरम्" इस यजुर्वेदके वचनके अनुसार यह शरीर जब निष्प्राण हो जावे तो इसे अवश्य भस्म कर देना चाहिये। पृथ्वीमें भी नहीं गाड़ना चाहिये। वन वा जलमें भी नहीं फेंकना चाहिये ॥२९॥

मानापमानविषये समता समन्ता-
च्छ्रीवैष्णवैर्हरिपदाब्जरतैरुपास्या।
श्रेयोभिलाषिभिरसुव्यसनागमेऽपि,
मानाभिभङ्गभयतोऽपि मृषा न वाच्यम् ॥३०॥

भगवानके ऐकान्तिकभक्तोंको चाहिये कि मान और अपमानके विषयमें समता धारण किये रहें। जो सत्य वस्तु हो उसे कभी छिपाना नहीं चाहिये। तथा प्राणसङ्कटमें भी और मानभङ्गके भयसे भी असत्य नहीं बोलना चाहिये ॥ ३० ॥

स्त्रीभिर्धृतानि वसनानि च भूषणानि,
स्पृश्यानि नैव मतिमद्भिरपेतरागैः।
नास्यं सह क्वचन ताभिरथो रहो वा,
तद्वाचया न वचनं परिमिश्रयेयुः ॥३१॥

विरक्तपुरुषोंको चाहिये कि स्त्रियोंके पहिने हुए वस्त्रों तथा आभूषणोंका स्पर्श न करें तथा स्त्रियोंके साथ एकान्तमें न बैठें और न कभी बात करें ॥ ३१ ॥

श्रीविष्णुवैष्णवसभाजनतत्पराणा-
मिष्टेतरत्किमपि केऽपि समाचरन्तः ।
यामीर्विषह्य नरकादिषु यातनास्ता,
मूकाश्च कुष्ठिकलिताश्च भवन्ति भूमौ ॥३२॥

भगवान् और भागवत की सेवामें तत्पर रहनेवाले हरिजनोंका जो अनिष्ट करते हैं, वे नीचमनुष्य यमपुरीकी यातनाओंको सहन करके गूँगे और कोढ़ी होकर जन्म लेते हैं ॥ ३२ ॥

ये प्रेतभूतपिशिताशनयक्षसंघं,
मूढा निरन्तरमुपासत ईशबुद्ध्या ।
तेषां न भुक्तिरिह मुक्तिरथो परत्र,
न स्यात्कदापि विविधभ्रमजालभाजाम् ॥३३॥

जो लोग भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदिकी सर्वदा ईश्वबुद्धिसे उपासना करते हैं, उन भ्रान्तपुरुषोंको कभी भी भोग और मोक्ष प्राप्त नहीं होता है ॥ ३३ ॥

जिह्वा विशुद्ध्यति नृणामृतसत्यवाचा,
कर्णावुपास्य हरिकीर्तिकथामृतौघम् ।
पादौ च तीर्थगमनेन करौ च दानै-
र्नित्यं मनो निखिलदम्भविवर्जनेन ॥३४॥

मनुष्योंकी वाणी सत्यसे शुद्ध होती है, कान भगवत्कथाश्रवणसे, तीर्थाटनसे पग, दानसे हाथ और दम्भ आदिके त्यागसे मन शुद्ध होता है ॥ ३४ ॥

होमे जपे हरिपदस्मरणे व्रते वा,
देवार्चने हरिजना न समालपेयुः ।

आवश्यकं यदि भवेत्परमं तदा त्रि-
राचम्य कार्य्यमधिकृत्य वदेद्यतात्मा ॥३५॥

भजन, जप और होमके समय किसीके साथ कोई अन्य वार्तालाप न करें। यदि वार्तालाप बहुत आवश्यक हो तो तीन आचमन करके कार्यके अनुसार वार्ता करें। विशेष नहीं ॥ ३५ ॥

आचार एव परमः श्रुतिसम्मतोऽस्ति,
धर्मो निरन्तरमथो हृदि सद्विचारः।
पूर्वेण शुद्ध्यति बहिःकरणव्रजोऽयं,
बन्धस्य हेतुरपरेण मनः क्रमेण ॥३६॥

आचार और सद्विचार ये दोनों वेदप्रतिपादित धर्म हैं। आचार-स्नान शौच आदिसे बाह्य इन्द्रिय शुद्ध होते हैं और सद्विचारसे बन्धका कारण मन शुद्ध होता है ॥ ३६ ॥

यो विष्णुभक्तमवलोक्य धनादिगर्वा-
द्बद्धाञ्जलिर्नतशिरा न समुत्थितः स्यात्।
बोभूयते स हि परेत्य हिमादिसोढ़,
यत्र क्वचिच्छिखरिणो दृषदां सुभित्तम् ॥३७॥

जो विष्णुभक्तको देखकर गर्वसे हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर खड़ा नहीं होता वह मरकर हिम, ताप आदिका सहनकरनेवाला जहाँ कहीं भी पहाड़के पत्थरका टुकड़ा फिर फिर होता रहता है ॥ ३७ ॥

मालाभिधेयतिलकानि च तप्तमुद्रे,
श्रीराममन्त्रचरमद्वयमादधानैः।
चारित्रभूषणविभूषितमानसाढ्यै-
र्भक्तैः परोपकृतिरत्नचयैर्हि भाव्यम् ॥३८॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक, तप्तमुद्रा, भगवत्सम्बन्धी नाम, कण्ठी और राम-मन्त्रको धारण करनेवाले, सदाचारी भक्तोंको सदा परोपकारपरायण होना चाहिये ॥ ३८ ॥

यानेन विष्णुभवने गमनं न कार्यं,
कैश्चिद्विचारचतुरैर्न च पादुकाभ्याम् ।
देवोत्सवादिसमये प्रभुपादपूजा,
कार्य्या सदैव परधामनिवासकामैः ॥३९॥

भगवान्‌के मन्दिरमें रथादिपर चढ़कर अथवा पादुका पहिनकर किसीको भी नहीं जाना चाहिये । मोक्षाभिलाषी हरिजनोंको उचित है कि भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करें ॥ ३९ ॥

आसेवितां हरिजनैः प्रतिमां विलोक्य,
विष्णोः सपद्यधिधरं शिरसोरसा च ।
पद्युग्मबाहुयुगलेन च नम्रभावै-
स्त्रिर्दण्डवत्प्रणतयः सकलैर्विधेयाः ॥४०॥

भक्तिरूपसुन्दररत्नोंके किरणोंसे सुशोभितमनवाले पुरुषोंको उचित है कि हरिजनोंद्वारा पूजित भगवन्मूर्तिको देखकर तत्काल ही साष्टांग प्रणाम करें ॥ ४० ॥

यन्मन्दिरे भवति चन्दनपत्रपुष्पं,
देवार्पितं स्पृशतु कोप्यशुचिर्न तच्च ।
कार्य्या न हि प्रणतिरेककरेण विष्णौ,
नम्रः परिक्रमणमीड्यतमस्य कुर्यात् ॥४१॥

मन्दिरमें भगवत्सम्बन्धी चन्दनपुष्पादिको स्नानादि किये बिना कोई मनुष्य स्पर्श न करे । एक हाथसे भगवान्‌को प्रणाम न करे । नम्र होकर भगवान्‌की प्रदक्षिणा करे ॥ ४१ ॥

पादप्रसारणममुष्य जगत्त्रयाधि-
नाथस्य नो समुचितं पुरतः कदापि ।
पर्यङ्कबन्धनमथास्ति निबन्धनाय,
स्वस्यैव भव्यजनमण्डल तत्पुरस्तात् ॥४२॥

भगवान्के संमुख कभी भी पग फैलाकर बैठना उचित नहीं। क्योंकि इससे बन्धन प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

स्वापं च जग्धिमथ ताररवेण वादं,
मिथ्योक्तिरोदनमिथोवदनाहवादीन् ।
क्रूराभिभाषणमनुग्रहनिग्रहौ च,
मा मा समाचरतु कोऽपि हरेः समक्षम् ॥४३॥

भगवान्के समक्ष सोना, भोजन, उच्चस्वरसे बोलना, मिथ्याभाषण, रोना, परस्परवार्तालाप, युद्धादि, कठोरभाषण, अनुग्रह और दण्ड यह सब कार्य किसीको नहीं करने चाहिये ॥ ४३ ॥

आवृत्य देहमभितोऽसितकम्बलेन,
गच्छेत्कदापि नहि कोपि हरेः पुरस्तात ।
आत्मस्तुतिं च परदूषणभाषणादि,
मा संविधात् क्वचिदधोनिलमोक्षणं वा ॥४४॥

भगवान्के संमुख कालाकम्बलादि धारण, आत्मस्तुति, परनिन्दा और पर्दन भी नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

अश्लीलवाचमनिवेदितभोजनानि,
गौणोपचारमथ देवपदेषु रुन्ध्यात् ।
विष्णौ च सामयिकपुष्पफलाद्यदित्सा,
तन्यान्न कोपि परमार्थरुचिर्जनोऽत्र ॥४५॥

भगवान्के संमुख अश्लीलभाषण न करे। भगवान्को निवेदन किये विना भोजन नहीं करे। पाषण्डपूर्ण भक्ति न करे। सामयिकपुष्प और फल आदिके देनेकी कभी अनिच्छा न करे ॥ ४५ ॥

आस्वाद्य वस्तुनिचयः प्रथमं स्वयं यैः,
पश्चात्प्रभोश्चरणपङ्करुहेऽर्पितः स्यात्।
ते कोटिकुष्ठिकृमिसंकुलनारकेषु
सम्पात्य दुःखविपिने निहिता भवन्ति ॥४६॥

जो पुरुष किसी वस्तुका प्रथम स्वयं भोगकरके पश्चात् बचे हुए वस्तुको भगवान्को अर्पण करते हैं वह करोड़ों कोढ़ियों और कीड़ों से पूर्ण नरककुण्डमें डाले जाकर कष्टमय योनिमें फेंक दिये जाते हैं ॥४६॥

देवाधिदेवपुरतो भ्रमतोऽपि पृष्ठं,
कृत्वोपवेशनमशस्तमिति ब्रुवाणाम्।
शास्त्रीयवैधवचनं हि तिरस्करोति,
यः सोऽपि नैरयगतिं विवशः प्रयाति ॥४७॥

भगवान्के आगे भ्रमसे भी जो पीठ करके बैठता है वह भी विवश होकर नरकगतिको पाता है ॥ ४७ ॥

आगच्छतो गुरुजनान् गुरुमन्तरेण
विष्णोः पुरो नहि नमेद्धरिवल्लभाग्र्यः।
शास्त्रं विचार्य हृदयेन च तद्विरुद्धं,
यो नाचरेत्स परमं पदमभ्युपैति ॥४८॥

भगवत्समक्ष गुरुके अतिरिक्त किसीको नमस्कार न करे। शास्त्रको विचारकर जो विरुद्ध आचरण नहीं करता है वह परमपदको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

गाङ्गेयमित्यथ च राजतमित्यथापि,
ताम्रं च कांस्यमथ शस्त्रकनिर्मितं वा ।
षट्कोणकं च वलयत्रयसम्परीतं,
तद्द्वादशारमनिशं बिभृयाद्धि चक्रम् ॥ ४९ ॥

सोनेके अथवा चांदीके अथवा कांसके अथवा लोहेके बने हुए षट्कोणवाले, तीन वलयवाले, द्वादश अरावाले सुन्दरचक्रको तप्तकरके दक्षिणभुजके मूलमें धारण करना चाहिये। (वाम भुजके मूलमें शंख धारण करे यह भी समझ लेना चाहिये) ॥ ४९ ॥

चक्रं च वैष्णवमिदं दमुनोविदग्धं,
यो लीलयापि दधते निजबाहुमूले ।
त्यक्त्वा परेतपतिभीतिभरानितस्ते
निश्चप्रचं समवयन्ति विभीकलोकम् ॥ ५० ॥

अग्निमें तपे हुए चक्रको लीला से भी जो कोई अपने भुजके मूलमें धारण करता है वह यमराजके भयको छोड़कर निस्सन्दिग्ध निर्भयलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ५० ॥

ये बिभ्रते धनुरजिह्मगयुग्ममात्म-
बाह्वोर्विदग्धदुरिता भवभीविमुक्ताः ।
तान्बाधते नहि कदाचन कापि बाधा,
तेऽन्ते प्रयान्ति रघुनाथविमृत्युलोकम् ॥५१॥

तप्त धनुष् और बाणको भी अपने भुज पर धारण करनेवाले सब पाप और बाधाओंसे छूटकर अन्त में प्रभुको प्राप्त करते हैं ॥ ५१ ॥

यः श्वेतमृन्निचयतो विरचय्य पार्श्वौ,
भागौ च मूर्धनि हरेश्चरणानुकारौ ।

हारिद्रचूर्णरचितं पृथिवीतनूजा-
स्थानं तनोति ललितं लघु पार्श्वमध्ये ॥५२॥
तं न स्पृशन्ति कलिदोषकलाः कदाचि-
न्नो वा यमो न नियमो यमयातनायाः ।
यस्तं च पश्यति महाघकृदप्यकस्मा-
त्सोऽपि प्रयाति हरिलोकमनन्यधन्यः ॥५३॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र करनेवालेको कभी न तो कलिकालके दोष स्पर्श करते हैं न यमराज स्पर्श करते हैं और न तो नरककी यातना उसे पीडा देती है। कोई महापापी भी यदि उस ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी वैष्णवका दर्शन कर ले तो वह परमपदको पा लेता है ॥ ५२–५३ ॥

यस्यास्ति नाम भगवत्परकं पवित्रं,
धन्यः स देवमहितः प्रथितः पृथिव्याम् ।
नामानुसारिरमणीयगुणावतार,
स्वस्मिन्दधज्जगति धन्यतमो भवेत्सः ॥५४॥

जिसका भगवत्सम्बन्धी नाम हैं वह देवोंका भी पूज्य, प्रख्यात पुरुष पृथ्वीपर धन्य है। तथा नामके अनुसार ही जिसमें उत्तम गुण होते हैं वह धन्यतम होता है ॥ ५४ ॥

शान्तेन्द्रियं गुरुवरं विदुषां वरिष्ठं,
भक्तं विरक्तमुपसद्य च सच्चरित्रम् ।
श्रीराममन्त्रमुपगृह्य रहस्ययुक्तं,
श्रद्धाधनस्त्रिजगतीं सततं पुनाति ॥ ५५ ॥

जितेन्द्रिय, विद्वानोंमें श्रेष्ठ, सच्चरित्र, भगवद्भक्त तथा विरक्त गुरुके समीप जाकर रहस्ययुक्त श्रीराममन्त्रका उपदेश लेकर श्रद्धालु हरिजन तीनों लोकोंको पवित्र करता है ॥ ५५ ॥

ये लम्पटा विषयभोगनिमग्नचित्ता,
विश्वप्रतारणपराः कुधियो विमूढाः ।
विद्यासुरत्नलसिता अपि पापचारा,
ग्राह्या न तेऽतिविपदागमनेऽपि कैश्चित् ॥५६॥

जो दुष्टबुद्धिवाले, महामूर्ख, लम्पट हों, रात्रिदिवस विषयभोगकी ही चिन्तामें तल्लीन हों, संसारको ठगनेकी ही धुनमें हों, ऐसे पापी चाहे कितने बड़े भी विद्वान् क्यों न हों, विपत्तिमें भी उनका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ५६ ॥

एतादृशस्य सुगुरोरधिगत्यभावे,
श्रीरामनामजपनं भवने वने वा ।
स्याच्छ्रेयसेऽसदुपसत्तिरियं परन्तु,
कल्याणिनी भवति नैव कदापि नृणाम् ॥५७॥

यदि सदाचारी, गुरु न मिले तो घरमें ही अथवा जंगलादि एकान्त-स्थानमें बैठकर श्रीरामनामका जप करना चाहिये । इससे ही कल्याण हो जायगा; परन्तु असद्गुरु अच्छा नहीं है ॥ ५७ ॥

साकेतनाथरघुनाथपदारविन्द-
ध्यानेन धूतनिखिलोल्बणकिल्बिषो यः ।
तद्विग्रहार्चनमहर्दिवमातनोति,
संसारसागरमिमं स तरत्यवश्यम् ॥५८॥

जो पुरुष श्रीरामजीके चरणकमलके ध्यानसे, पापोंको नष्ट कर चुका है, तथा सर्वदा भगवान्के ही विग्रहका अर्चन करता है वह इस बड़े अगाध संसारसागरको तर जाता है ॥ ५८ ॥

संसारपाथोधिमपारमिद्ध-
कामादिदुर्धर्षणसत्त्वजालम् ।

यः स्यात्तितीर्षुः स हि निर्मिमीतां-
श्रीरामनामप्लवमञ्जसैव ॥५९॥

जिसका पार नहीं हैं, जिसमें प्रबलकामादिरूप महाभयंकर जीव पड़े हैं, ऐसे संसारसागरको पार करनेकी इच्छावालोंको चाहिये कि श्रीरामजीके नामको ही नौका बनावें ॥ ५९ ॥

भये च दुःखे विजने जने वा
पुत्रे कलत्रे भवने वने वा ।
सुखाय योऽत्र स्पृहयेदजस्रं
स रामनामस्मरणं करोतु ॥६०॥

जो पुरुष भयमें, दुःखमें, शत्रुओंमें, स्वजनोंमें, पुत्रमें, कलत्रमें, घरमें, वनमें सुखकी इच्छा करता हो उसे चाहिये कि श्रीरामनामका स्मरण करे ॥ ६० ॥

यस्मिन्महापत्तिमहासमुद्रे
ब्रुडन्तमालोक्य जहत्यनन्ते ।
मित्राण्यपि त्राणमिदं करोति
श्रीरामनामात इदं भजध्वम् ॥६१॥

जिस विपत्तिरूपसागरमें डूबते हुए देखकर मित्र भी छोड़ देते हैं वहाँ भी यही रक्षा करता है । अतः इस श्रीरामनामको ही भजो ॥ ६१ ॥

निरीक्ष्य वः क्लेशलवं कदाचि-
दनल्पकल्पान्तदवाग्निदग्धः ।
शान्त्यै प्रयत्नं तनुते महान्तं
निरस्तसाम्यो विपदेकबन्धुः ॥६२॥

तुम्हारे अत्यन्त अल्पदुःखको भी देखकर अतिदुःखित होकर, तुम्हारे सुखकेलिये यत्न करतेहुए वह आपत्ति-बन्धु किसीकि समता नहीं रखते ॥ ६२ ॥

एतादृशं बन्धुजनं जनौघाः
कदापि मा मा परिभूत यूयम् ।
सेव्यः सतामस्ति तथापि तेषां
कैङ्कर्यमाधातुमयं समुत्कः ॥६३॥

हे मनुष्यो ! ऐसे बन्धुजनका तुम लोग कभी भी तिरस्कार मत करो । भगवान् सत्पुरुषोंका सेव्य है तथापि कृपावश होकर सत्पुरुषोंकी सेवा करनेकेलिये अत्यन्त उत्सुक रहता है ॥ ६३ ॥

इत्येवं यतिराज आगतजनानादिश्य विमलं
धर्मं धर्मधुरीण ऐन्दवकलास्पर्द्धोद्धकृतिमान् ।
दत्वाशीर्वचनं समस्तवसुधाकल्याणमनिशं,
वाञ्छन्नेव समापयत्किल सभामुत्फुल्लवदनः ॥६४॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवद्-दाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये द्वादशः सर्गः ।

श्रीमान् यतिराजने आये हुए लोगोंको इस प्रकारसे निर्मल उपदेश देकर, सबको आशीर्वाद देकर, सबका कल्याण चाहते हुए सभा समाप्त कर दी ॥ ६४ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवद्-दाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्या-ख्यव्याख्यायां द्वादशः सर्गः ।

अथ त्रयोदशः सर्गः

अथ विसर्ज्य सभां यतिनायकः
सकलशिष्यगणेन समं मुदा ।
उपययौ सरसीं स उपासितुं
दिनकरान्तविधिं विधिसम्मतम् ॥ १ ॥

यतिराज सभा विसर्जित करके अपने सम्पूर्णशिष्यगणके साथ सायंकृत्य करनेके लिये जलाशय पर गये ॥ १ ॥

निववृते स विधाय विधानतो
बहुफलाः सुफलाः सकलाः क्रियाः ।
उपविवेश पुनः सदनासनं
नरपतिश्च विवेश ततः परम् ॥ २ ॥

श्रीयतिराज सायङ्कालकी ध्यानोपासनादि समस्त क्रियाओंको विधिपूर्वक समाप्त करके लौटकर पुनः आसनपर बैठ गये । उसके पश्चात् पीपाजी वहाँ आये ॥ २ ॥

बहुगुणेन गणेन विदां मुनिं
समभिवेष्टितमुल्लसितं सितम् ।
नयनयोरतिथिं विरचय्य स
प्रणतिमाशु चकार विदूरतः ॥ ३ ॥

पीपामहाराजने श्रीयतिराजका दर्शन करके दूरसे ही प्रणाम किया ॥ ३ ॥

अधिसभं मुनिना पृथिवीपतिः
परमहर्षमुपेत्य शुभाशिषाम् ।

निचयतो बहुशः स समुक्षितः
स्वसविधे विधिनाप्युपवेशितः ॥ ४ ॥

श्रीयतिराजने आशीर्वाद देकर सभामें अपने समीप ही उन्हें बैठाया ॥ ४ ॥

अथ जगाद पतिर्यमिनां नृपं
सकलमानवमानसमोहनम् ।
वच इदं श्व इतो गमनं प्रति
श्रयति तात ममान्तर मुत्कताम् ॥ ५ ॥

श्रीयतिराजने राजासे कहा कि 'हे वत्स ! मेरा मन अब यहाँ से कल्ह जानेकेलिये उत्सुक हो रहा है' ॥ ५ ॥

श्रुतिपथेन वचो हृदयेऽदयं
प्रविशदेव नृपस्य महाव्यथाम् ।
अतनुतेति सपद्यवनीतले
नरपतिर्निपपात स मूर्छितः ॥ ६ ॥

सुनते ही राजा शीघ्र ही मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ६ ॥

करुणया करुणानिधिरात्मवा-
न्समुदतिष्ठिपदात्मजनं नृपम् ।
शिरसि तस्य विशिङ्घ्य पुनः पुनः
श्रितदयेन करेण समस्पृशत् ॥ ७ ॥

यतिराजने करुणा करके स्वभक्त श्री पीपाजीको उठाया और उनके मस्तकको सूंघकर दयापूर्ण हाथसे पुनः स्पर्श किया ॥ ७ ॥

उदितचेतन एव नृपोऽवद-
द्यतिपते परिहाय कथन्नु माम् ।

जिगमिषा हृदयेऽजनि तावके
कथमिदं भवितुं नु तदर्हति ॥ ८ ॥

चेतना आते ही राजा कहने लगे कि हे यतिराज ! आपको मुझे छोड़कर जानेकी इच्छा कैसे उत्पन्न हुई ? तथा ऐसा हो ही कैसे सकता है ? ॥ ८ ॥

गमनमेव धिया भवता पुन-
र्यदि मनाङ् निरणायि तु मे वचः ।
भवतु नाथ समादृतमेतदा-
दिशतु मां चलितुं भवता समम् ॥ ९ ॥

तथा यदि आपने जानेका ही निर्णय कर लिया हो तो हे नाथ ! थोड़ी ही मेरी प्रार्थना भी स्वीकृत की जावे। वह यह कि मुझे भी अपने साथ चलनेकी आज्ञा दीजिये ॥ ९ ॥

जगदिदं जगतोऽस्य सुखं मह-
न्नरपतित्वमिदं विभु वैभवम् ।
नहि मनागभिकाङ्क्षति मे मनो
विरतये स्पृहयत्यथ केवलम् ॥ १० ॥

मेरा मन इस जगत्को, जगत्के बड़े-बड़े सुखोंको, राज्यको, महान् वैभवको तनिक भी नहीं चाहता है। उसे केवल विरक्तिकी इच्छा है ॥ १० ॥

यतिवरो नरपालमनोगतं
निखिलमेव जगाद परीक्षितुम् ।
वय इदं नवमेव तव क्षमा
भृदसि नेतुमतोऽर्हे इतो नहि ॥ ११ ॥

श्रीयतिराजने राजाके हृदयस्थभावकी परीक्षा करनेकेलिये उत्तर दिया कि हे राजन्! आपकी अवस्था नवीन है अतः साथ ले चलनेके आप योग्य नहीं हैं ॥ ११ ॥

विविधभोगवनान्तरचारिणो
रथमृते न कदापि विहारिणः ।
कथमये भविता तव निर्वहो
नरपते कठिना हि विरागिता ॥१२॥

हे राजन् ! नाना प्रकारके भोगरूपवनमें विचरनेवाले तथा रथके विना कभी भी न फिरनेवाले आपका निर्वाह कैसे होगा ? क्योंकि विरक्त-धर्म कठिन है ॥ १२ ॥

असुलभो भविता क्षुधिताय ते
सुरसभोज्य पदार्थचयः क्वचित् ।
अथ च वत्स पिपासित एव नो
झटिति निर्मलवार्युपलप्स्यसे ॥१३॥

हे वत्स ! जिस समय तुम्हें भूख लगेगी उस समय सुन्दर रसीले भोग्य पदार्थ नहीं मिलेंगे । तथा पिपासासे व्याकुल होनेपर शीघ्र निर्मल-पेय जल भी उपलब्ध नहीं होगा ॥ १३ ॥

नरपते नृपतेः प्रतिकर्मणां
निचयमद्य विहाय कथं वने ।
मुनिजनोचितवेषमुपादद-
न्मुनिगणेन समं नु चलिष्यसि ॥१४॥

हे राजन् ! आप इस राजकीयवेषसमूहको त्यागकर, मुनिजनोचित-वेषको स्वीकारकर मुनिजनोंके साथ वनमें कैसे चलेंगे ? ॥ १४ ॥

नरपते बहुकण्टकसङ्कटे
पथि भृते व्यथकैरथ शार्करैः ।
अहह वत्स विदूनमना भव-
न्मम मनस्त्वमलं व्यथयिष्यसि ॥१५॥

हे राजन् ! हे वत्स ! कण्टकाकीर्ण तथा कङ्कड़ोंसे परिपूर्ण मार्गमें तुम व्याकुलमनवाले होकर हम लोगोंके चित्तको भी दुःखित करोगे ॥ १५ ॥

प्रकृतयस्तव भूप विना त्वया
महति शोकसहस्रपयोनिधौ ।
निपतिता भवितार इतोऽपि मे
वस गृहे वचसा न हठं कुरु ॥१६॥

हे राजन् ! तुम्हारे विना यह तुम्हारी प्रजा शोकसागरमें निपतित हो जायगी । अत एव तुम भी मेरा वचन मानकर घर रहो । हठ मत करो ॥ १६ ॥

कथममूर्विकलाः स्वकुलस्त्रियो
रहयितुं सहसोत्सहसे ऽधुना ।
भव विचारपरः प्रिय मामकं
नहि वचस्त्वमुपेक्षितुमर्हसि ॥१७॥

विकल स्वकुलकी स्त्रियोंका त्याग करनेकेलिये कैसे तुम्हारा हृदय स्वीकार करता है ! हे प्रिय ! विचारपरायण बनो । मेरे वचनकी उपेक्षा मत करो ॥ १७ ॥

इति वचो निशमय्य हितावहं
यतिपतेः करुणारसभावितम् ।

प्रणिजगाद गिरं गिरिवद्दृढो
मुनिमभि प्रणतिं प्रणयन्नृपः ॥१८॥

श्रीयतिराजके इस प्रकार हितप्रदवचनको सुनकर पर्वतसमान शरीर और स्थिरतावाले श्रीपीपाजी मुनिराजको प्रणाम करके करुणारसपूर्ण वचन बोलने लगे ॥ १८ ॥

यतिपते यदवोचि हिताय मे
हिततमं भवता भवतापिते ।
तदनुतापसहस्रसमाकुले
नहि चिरं स्थितिमातनुते हृदि ॥१९॥

हे महाराज! आपने जो मेरे हितकेलिये अत्यन्त हितावह उपदेश दिये हैं वह संसाररूप अग्निसे परतापित, अनेक पश्चात्तापोंसे समावृत मेरे हृदयमें अत्यन्त स्थिति नहीं प्राप्त करते हैं ॥ १९ ॥

विपिनदुःखमतीव भयावहं
चरणचारमपि श्रुतिशेखर ।
तव पदाब्जपरागकृपालवा-
न्न गणयामि ततो नय मां प्रभो ॥२०॥

हे श्रुतिशेखर! अत्यन्तभयावहविपिनविपत्ति, तथा पैदल चलना, इन सबको मैं आपके चरणकमलपरागकी अनुकम्पासे नहीं गिनूँगा। अतः मुझे ले चलिये ॥ २० ॥

तव पदान्तिकतां श्रयतो न मे
किमपि दुःखमुदेष्यति दुःखहृत् ।
उदयते तिमिरं यतिभूपते
नहि विभाति विभास्वति कर्हिचित् ॥२१॥

हे प्रभो आपके चरणोंके समीप रहते हुए मुझे कोई भी क्लेश न होगा। सूर्यके प्रकाशित रहते हुए कभी भी अन्धकारका उदय नहीं होता ॥ २१ ॥

स्मरविकार्यमिदं किल मे वयो
भवति भीर्न विभो भवति स्थिते ।
अतिसमृद्धमपीह तमो हि किं
न रविणा समुदित्य निवार्यते ॥२२॥

यद्यपि यह मेरी अवस्था कामसे विकृत हो जानेवाली है तथापि हे प्रभो! आपके रहते मुझे अणुमात्र भी भय नहीं होता है। अत्यन्त बढ़े हुए अन्धकारको भी क्या सूर्य उदय पाकर नहीं निवृत्त करता है? ॥ २२ ॥

प्रकृतयः परमेश्वररक्षिताः
सुखभृता भवितार ऋषे सदा ।
स्वयमपीच्छति यो भरणं परा-
द्भरणमादधतां स परस्य किम् ॥२३॥

हे ऋषे! परमेश्वरसे रक्षित गाङ्गरौनगढ़की प्रजा सुखपूर्ण रहेगी। जो स्वयं अन्यसे अपनी रक्षाका अभिलाषी है वह अन्योंकी रक्षा क्या कर सकता है? ॥ २३ ॥

मयि गते यतिराज कुलाङ्गना
भगवतः करुणाजलधेः कृपा ।
सुकृतमप्यदसीयमुपार्जितं
प्रतिदिनं निपुणं परिपास्यति ॥२४॥

हे गुरुवर्य! मेरे जानेपर भगवान्‌की कृपा और इन कुलाङ्गनाओंके उपार्जित सुन्दरकर्म यह दोनों राजकुलकी स्त्रियोंकी रक्षा करेंगे ॥ २४ ॥

यतिपते सुचिरं न परीक्षतां
करुणया च दृशा मयि वीक्षताम् ।
प्रमुदितेन विभो हृदयेन मे
गमनमादिश शीघ्रमुदारधीः ॥२५॥

हे महाराज ! अब बहुत परीक्षा न कीजिये। मेरी ओर करुणादृष्टिसे अवलोकन कीजिये। प्रसन्न हृदयसे शीघ्र मुझे चलनेकी आज्ञा दीजिये ॥ २५ ॥

इति विधाय नृपो विनयं यते-
र्जलजपादयुगे प्रणतोऽभवत् ।
यतिवरोऽप्युपगृह्य भुजान्तरे
नरपतिं गमनाय स आदिशत् ॥२६॥

श्री पीपाजी इस प्रकार विनय करके यतिराजके कमलचरणोंमें झुक गये। श्रीयतिराजने भी उन्हें अङ्कमें भरकर चलनेकेलिये आज्ञा दे दी ॥ २६ ॥

मुदभरो नृवरस्य ममौ तदा-
न हृदये मुनिराडनुकम्पितः ।
स च सपद्यवरोध उपाययौ
प्रियतमां विदुषीं महिषीं मुदा ॥२७॥

आज्ञा सुनकर, राजाके हृदयमें आनन्द नहीं समाया। मुनिराजसे आज्ञा पाकर अपनी प्रियतमा महाराणीके पास प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र अन्तःपुर में आये ॥ २७ ॥

विशति वासगृहं नृपतौ स्मृतिः
स्मरसखीव पुरो विहिताञ्जलिः ।

सदकृताशु निजं दयितं प्रिया
स्वधव एव यतो हि सतीधनम् ॥२८॥

जिस समय राजा अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए, रतिसमान सुन्दरी महाराणी स्मृतिने हाथ जोड़कर शीघ्र उनका सत्कार किया। क्योंकि अपना पतिदेव ही सती स्त्रियोंका धन है ॥ २८ ॥

गुणवती च विलासवती सती
मधुरहासकरी कुलपालिका।
परमहर्षभृता रमणीमणिः
पतिमनूपविवेश ततः स्मृतिः ॥ २९ ॥

अनेकसुन्दरगुणोंवाली, सुन्दरविलासवाली, मधुरमुसुकानवाली, अत्यन्त हर्षसे भरी हुई रमणियोंमें परमसुन्दरी महाराणी स्मृति राजाके बैठ जानेपर पश्चात् स्वयं भी बैठ गयीं ॥ २९ ॥

अगणितानि दिनानि यया समं
दयितया गतवन्ति सुखेन मे।
सपदि तद्विरहो भवितेति हा
शुगुदयस्तमधीरमिवाकरोत् ॥३०॥

जिसके साथ सुखसे मेरे इतने दिन व्यतीत हुए हैं, आज उसी मेरी स्मृतिका विरह होगा इस प्रकारसे चिन्ताके उदयने राजाको अधीरकी भाँति बना दिया ॥ ३० ॥

अनिमिषं च विलोक्य नितम्बिनीं
स्वमहिषीं स्मृतिमाशु भुवांपतिः।
नयनयोरधिकोणमुदारधीः
स विदधेऽश्रुभरं विकलान्तरः ॥३१॥

श्री पीपाजी स्मृतिको एकटकसे देखकर, व्याकुल मनवाले होकर आँखोंमें जल भर लाये ॥ ३१ ॥

स्मृतिरिमामभिवीक्ष्य दशां ततो
नरपतेः सहसा भयविह्वला ।
सविनयं निजगाद भुजान्तरे
दयितमाशु विधाय रसेश्वरी ॥३२॥

प्रियतमा स्मृति राजाकी सहसा इस करुणदशाको देखकर भयसे कातर होकर अपने जीवनधनको आलिङ्गन करके विनयपूर्वक बोलने लगी ॥ ३२ ॥

कथय नाथ किमस्ति हि कारणं
भवसि येन सुदुःखभरार्दितः ।
शुगियमेत्य सुखं मम सन्निधौ
किमिति चन्द्रमुखं तव चुम्बति ॥३३॥

हे नाथ ! कहिये, क्या कारण है कि आप इतने दुःखी हो रहे हैं ? यह चिन्ता आकर मेरे समीपमें आपके चन्द्रसमानमुखको कैसे चुम्बन कर रही है ? ॥ ३३ ॥

प्रियतम प्रणयाश्रय मे मनो-
हरणहार समाधिमुदाहर ।
तव कपोलयुगेऽस्रसरिज्जले
ब्रुडति दीनतमं मम मानसम् ॥३४॥

हे प्रेमपात्र ! हे मेरे मनके हरण करनेवाले हार ! आप मेरा समाधान कीजिये । आपके गालोंपर बहती अश्रु-नदीके जलमें मेरा अत्यन्त रङ्क मन डूब रहा है ॥ ३४ ॥

प्रियतमावचनामृतनिर्झरै-
र्हिततमैश्च मनाक्छिशिरीकृतः ।
निजमनोगतभावविकासने
प्रभुरभूत्कथमप्यवनीपतिः ॥३५॥

स्मृतिके वचनामृतनिर्झरसे कुछ शीतलताको प्राप्त कराये गये हुए राजा किसी-किसी प्रकारसे स्वमनोगतभावको प्रकट करनेमें समर्थ हुए ॥३५॥

अयि विलासिनि भाग्यवशेन मे
समुदिता हृदयेऽद्य विरागिता ।
अत इदं निखिलं नृपवैभवं
सपदि हेयपदं प्रतिपत्स्यते ॥३६॥

हे विलासशालिनि ! भाग्यवशात् मेरे हृदयमें वैराग्य उत्पन्न हुआ है। अतः यह समस्त राजवैभव शीघ्र ही मेरेलिए त्याज्य हो जायेगा ॥ ३६ ॥

शिशिरकान्तिसमातपवारणं
लसदहोऽद्वयचामरयुग्मकम् ।
भवति नैव मनोरमणाय मे
तदहमेमि वनं ललनेऽधुना ॥३७॥

चन्द्रसमान श्वेतच्छत्र तथा अत्यन्तसुन्दर ये दोनों चामर मेरे मनको आज प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। अतः हे प्रिये ! में वनको जाता हूँ ॥ ३७ ॥

प्रियतमे वररत्नसमुल्लस-
न्मुकुटमप्यथ मेऽद्य भरायते ।
प्रकृतिमण्डलमप्यनघं न मे
रुचिकरं गरलं हि विभाव्यते ॥३८॥

हे प्रियतमे ! सुदररत्नशोभित यह मुकुट भी आज मुझे भार समान लग रहा है। निष्पाप यह प्रजावर्ग भी आज मुझे रुचिकर नहीं; किन्तु विषसमान प्रतीत होता है ॥ ३८ ॥

चिरतरं ललितेऽत्र समं त्वया
रतिरकारि मया सुरतेश्वरि ।
रतिरियं भगवच्चरणान्तिके
चरति तेन रतिस्तव शाम्यतु ॥३९॥

हे प्रिये ! तुम्हारे साथ मैंने बहुत दिनोंतक रति-आनन्द किया है। अब यह रति-प्रीति भगवान् के चरणोंके समीपमें विचर रही है। अतः हे रतीश्वरि ! आज तुम्हारी रतिका अन्त होता है ॥ ३९ ॥

समवलोकनमाहितभावकं
विहसितं च विलासमनोरमम् ।
भवति तापदमेव तव प्रिये
तत इतः सखि यामि यतिर्भवन् ॥४०॥

हे प्रिये ! अनेकभावयुक्त तुम्हारा अवलोकन तथा विलासमनोहर तुम्हारा हास्य मुझे आज दुःखद हो रहे हैं। अतः हे मेरी सङ्गिनि, आज मैं यति होकर यहाँसे जाता हूँ ॥ ४० ॥

यदि मया परिहासमुपास्य ते
क्वचिदये ललने कटु जल्पितम् ।
तदिह मर्षय भामिनि तावके
पदयुगे प्रणतोऽस्मि विलासिनि ॥४१॥

हे ललने ! यदि किसी समय हँसीमें मैंने तुम्हें कोई भी कटु शब्द कहा हो तो हे भामिनी ! आज उसे क्षमा करो। हे विलासवति ! तुम्हारे चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ४१ ॥

विदुषि तिष्ठ गृहे सुसुखं चिरं
भगवतो भजनं कुरु सर्वदा ।
स हि तव प्रणयेश्वरि सत्पति-
र्विसृज मां गमनाय वनं प्रति ॥४२॥

हे विदुषि! तुम सुखपूर्वक घरमें निवास करो और सर्वदा भगवान्का भजन करो। क्योंकि वही तुम्हारे सत्पति हैं। हे प्रणयेश्वरि! मुझे वन जानेकेलिये विदा करो॥ ४२ ॥

इति वचो रतिपस्य प्रजापते-
र्विकलिताऽभवदाशु निपीय सा ।
स्मृतिरसौ सुविघूर्णितचेतना
निपतिता दलितेव लता भुवि ॥४३॥

राजाके इस वचनको सुनकर स्मृति व्याकुल हो गयीं और मूर्छित होकर कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ीं॥ ४३ ॥

इति दशामभिवीक्ष्य दयालुता
नरपतेर्हृदये व्यलसन्मुहुः ।
निजकरेण च तामुदतिष्ठिप-
न्नहि दया विरुणद्धि विरक्तताम् ॥४४॥

स्मृतिकी ऐसी दशा देखकर राजाके हृदयमें दयालुता उत्पन्न हो गयी। उन्होंने अपने हाथोंसे उन्हें उठा लिया। क्योंकि दया और वैराग्य का विरोध नहीं है॥ ४४ ॥

अपि च साकमनन्तरसान्तरे
चिरतरं विललास ययाऽत्र यः ।

कथमुदारमतिर्विपदि स्थितां
समवलोकितुमुत्सहतां स ताम् ॥४५॥

किंच जिस धर्मपत्नीके साथ चिरकालपर्यन्त कोई मनुष्य अनेकरसों का आस्वादन किया हो वह उसे विपत्तिमें पड़ी हुई कैसे देख सकता है ? ॥ ४५ ॥

समुपवेश्य निजाङ्कपदे प्रियां
पुनरवेक्ष्य विलासि तदाननाम् ।
सरससारससुन्दरपाणिना
नृपवरः सुतनोस्तनुमामृशत् ॥४६॥

राजाने अपनी प्राणेश्वरीको गोदीमें बैठाकर और उनके सुन्दर मुखको देखकर, रसीले कमलसमानसुन्दर हाथसे उनके शरीरका स्पर्श किया ॥ ४६ ॥

व्यथितधीः स्मृतिराह गलद्गिरा
किमिति मान्द्यमभून्नियतौ मम ।
निपतितः कुलिशः सहसा कथं
ननु विनाशयितुं व्रततिं पते ॥४७॥

स्मृतिदेवी सावधान होकर लड़खड़ाती हुई वाणीसे बोलीं कि हे स्वामिन् ! मेरे भाग्यमें सहसा यह मन्दता कहाँसे आ गयी ? लताके विनाश करनेकेलिये यह वज्र कैसे गिर पड़ा ? ॥ ४७ ॥

अपि सुतथ्यमिदं भवतो वचो
भवति वा परिहासविडम्बनम् ।
नहि मुधा परितापय मे मनो
हृदयवल्लभ शान्तिमवापय ॥४८॥

क्या यह आपका वचन सत्य है ? अथवा केवल आप हँसी कर रहे हैं ? हे हृदयवल्लभ ! व्यर्थमें मेरे हृदयको दुःखित न कीजिये । मुझे शान्ति प्राप्त कराइये ॥ ४८ ॥

जिगमिषस्यथ सत्यमितस्तदा
कथमिमं न जनं नयसे वनम् ।
कमपराधलवं नु विचार्य मां
त्यजसि दीनतमां शरणागताम् ॥४९॥

यदि सत्यही आप वनको जाते हों तो इस दासीको भी क्यों नहीं ले चलते ? हे नाथ ! किस अपराधलवको देखकर मुझ शरणागताका त्याग कर रहे हैं ॥ ४९ ॥

यदि वनं प्रति गच्छसि मत्प्रभो
किमधिगन्तुमिहाद्य वसाम्यहम् ।
कथय नाथ भवन्तमृतेऽपरो
हितकृदस्ति च को मम भूतले ॥५०॥

हे मेरे प्रभो ! यदि आप वनमें जाते हैं तो मैं किस लाभकेलिये यहाँ महलमें रहूँ । हे नाथ ! आप बताइये कि इस संसारमें आपके अतिरिक्त मेरा कौन हितैषी है ? ॥ ५० ॥

स्मृतिपथं न कथं नु तव स्मृतिः
समधिरोहति वल्लभ तेऽधुना ।
अतितमामनुराग इतः कथं
विलयमेकपदे प्रययौ प्रभो ॥५१॥

हे वल्लभ ! यह आपकी स्मृति आज आपके स्मरण में क्यों नहीं आती है ? हे प्रभो इतना अधिक प्रेम सहसा कैसे नष्ट हो गया ॥५१॥

अहह मामपि नाथ हतश्रियं
नय कृपापरतन्त्र सह त्वया ।
यदि न नेष्यसि सत्यमतो ब्रुवे
मरणमेव भवेच्छरणं मम ॥५२॥

हे जीवननाथ ! आप मुझे अपने साथ ले चलिये । हे हृदयेश ! यदि आप मुझे न ले चलेंगे तो मैं सत्य कहती हूँ कि मैं मर जाऊँगी ॥५२॥

स्मृतिवचोऽमृतमित्थमिलापतिः
परिनिपीय भवन्हतधीप्रभः ।
प्रियतमां परितोषयितुं गिरां
मधुरिमानमुदारमवास्तृणात् ॥५३॥

राजा इस प्रकार वचनामृत पान करके व्याकुल होते हुए प्रियतमा को सन्तुष्ट करनेकेलिये अत्यन्तमधुरवचन बोले ॥ ५३ ॥

हृदयतोषणि किं विदधासि मे
हृदयतापमितश्च वचश्चयैः ।
त्यज शुचं च समाकुलतां प्रिये
रमणिके न मुधा परिकल्पया ॥५४॥

हे हृदयतोषिणी ! आज अपने वचनोंसे तुम मेरे हृदयको क्यों परितप्त कर रही हो ? हे प्रिये ! शोकको छोड़ो । व्यर्थमें नाना प्रकारकी व्याकुलता उत्पन्न न करो ॥ ५४ ॥

तव कृते न वनं विदधे सता
मतिमता विधिना हठमाजहि ।
गृहनिवासपरा परमात्मनः
स्मरणमारचयानुदिनं प्रिये ॥५५॥

हे प्रियतमे ! विधाताने तुम्हारे जैसे सुकुमारियोंकेलिये जङ्गल नहीं बनाया है । हठको छोड़ो । गृहमें रहती हुई प्रतिदिन भगवान् का स्मरण करो ॥ ५५ ॥

नहि कदाचन कोऽप्यवहेलितो
मम वचोनिचयो ललने त्वया ।
चरमकाल उपस्थित एव मे
प्रियतमे प्रतिकूलयसेऽद्य किम् ॥५६॥

प्रिये ! तुमने कभी भी मेरे वचनका तिरस्कार नहीं किया है । आज अन्तिमसमयमें वैसा करनेकेलिये क्यों सङ्कल्प किये बैठी हो ? ॥ ५६ ॥

मृदुनि चेद्धृदये तव संस्थिता
मम कृते प्रियता परितापहृत् ।
विदितसर्वमदान्तरभाविके
परममानिनि मानय मे वचः ॥५७॥

हे मेरे अन्तरके सब भावोंको जाननेवाली प्रिये! यदि तुम्हारे हृदयमें मेरेलिये कुछ भी प्रेम हो तो मेरे वचनका अङ्गीकार करो ॥ ५७ ॥

यतिगणेन समं नहि शोभनं
तव भवेद्गमनं गजगामिनि !
अधिवसैव गृहं वचनान्मम
मम तवापि च भद्रमुदेष्यति ॥५८॥

हे गजगामिनि ! यतियोंके साथ तुम्हारा चलना उचित नहीं है । अतः मेरे कहनेसे तुम घरमें रहो । इसीमें तुम्हारा और मेरा कल्याण होगा ॥ ५८ ॥

हितकरं वचनं नृपतेरिदं
श्रुतिपथं स्मृतिरादधती सती ।
हठपरिग्रहमाशु जहौ हठा-
त्कथमपि स्वमनः समतोषयत् ॥५९॥

इस वचनको सुनकर स्मृतिने हठको छोड़ दिया और हठात् किसी-किसी प्रकारसे अपने मनको समझा लिया ॥ ५९ ॥

वदनसौरभतोऽस्य विनोदय-
न्त्यवनिपस्य मनः सुविलासिनी ।
अतितरामवधार्य वचःसुधां
नरपतिं समपीप्यदनुत्तमाम् ॥६०॥

स्मृति सम्यग् विचारकर राजासे बोलीं ॥ ६० ॥

सुखदिनानि च तानि गतान्यहो
सपदि मे भवितार उरश्छद !
विपदि मज्जनमेव विधेर्वशा-
त्समवशेक्ष्यति मेऽद्य नु दुर्विधेः ॥६१॥

स्वामिन्! मेरे वे सुख के दिन शीघ्र ही चले जावेंगे! अब मुझ अभागिनीको दैववश विपत्तिमें डूबना ही अवशिष्ट रहेगा! ॥ ६१ ॥

अहह नाथ विलासविलासिता
क्व गता भविता विरता सती ।
क्व नु पुनर्हृदयं हृदयेन ते
हृदयनाथ हरिर्घटयिष्यति ॥६२॥

हे नाथ! अब विलासकी विलासिता विरत होकर कहाँ जावेगी?

हे हृदयनाथ ! भगवान् अब पुनः कब आपके हृदयसे मेरे हृदयको आश्लिष्ट करेंगे ? ॥ ६२ ॥

नरपतिर्विपिनं व्रजतु स्मृति-
र्वसतु गेह इति प्रवया विधिः ।
बत कथं नु लिखन् हृदये निजे
नहि दयालवमस्पृशदीश्वर ॥६३॥

हे ईश्वर ! महाराज जङ्गल में जावें और उनकी दासी स्मृति घरमें रहे ऐसा लिखते हुए वृद्धब्रह्माजीने अपने हृदयमें अणुमात्र भी दयाका स्पर्श क्यों नहीं किया ? ॥ ६३ ॥

भवतु, यल्लिखितं मम दुर्विधे
हतविधौ विधिना बत दुष्कृतैः ।
फलतु तद्विनिवारयितुं च त-
द्भवतु को हि समर्थ इहाधुना ॥६४॥

अच्छा, मेरे दुष्ट और हतभाग्यमें मेरे दुष्कर्मोंके कारण ब्रह्माने जो कुछ लिख दिया, वह हो। अब उसको निवृत्त करनेकेलिये संसारमें कौन समर्थ है ? ॥ ६४ ॥

अहह नाथ तवास्ति हि नाथता
लसति मे सततं परतन्त्रता ।
तव वचोऽनुसृतावधिकारिता
प्रतिदशं नियता त्वदधीनता ॥६५॥

अहा ! हे नाथ ! आपमें स्वामीपन है और मुझमें दासीपन है। अतः आपके वचनके अनुसरण करनेमें ही मेरा अधिकार है। प्रत्येक दशामें आपके अधीन रहना मेरेलिये नियत है ॥ ६५ ॥

इति विचार्य यथाज्ञपनं भवे-
द्धृदयहार मयि प्रणते जने ।
ननु भविष्यति तद्विहितं मया
भजतु हन्त विधिर्हि कृतार्थताम् ॥६६॥

ऐसा विचारकर, हे नाथ ! इस दीनजनको आपकी जो आज्ञा होगी वह अवश्य पूर्ण हो जावेगी । हा ! विधातः ! तू कृतार्थ हो जा ॥ ६६ ॥

प्रियतम प्रयता तव सङ्गिनी
स्मृतिरियं पुरतस्तव याचते ।
त्वदपराध उदारमते मया
यदि कृतः स्मरणादपसार्यताम् ॥६७॥

हे प्रियतम ! आपकी सङ्गिनी यह स्मृति आपसे यह प्रार्थना करती है कि "हे उदारचित्तवाले स्वामिन् ! यदि मैंने आपका कोई अपराध किया हो तो उसे आप भूल जावें" ॥ ६७ ॥

विचरतो भवतोऽथ पुनर्भवे-
दपि कदाचिदितश्चरणार्पणम् ।
स्मृतिपथं भवता ननु नीयता-
मयमहो जन एष ममाञ्जलिः ॥६८॥

हे नाथ ! यदि पुनः कभी विचरते हुए आपका इधर पदार्पण हो तो इस दासीको अवश्य स्मरण करें । यही मेरी प्रार्थना है ॥ ६८ ॥

इति वदन्त्यथ सा ललना शुचा
विलुलिता निपपात नृपान्तिके ।

नरपतिश्च पुनः समबूबुध-
त्सहचरीं मधुरैर्वचनामृतैः ॥६९॥

इस प्रकार बोलती-बोलती वह स्मृति शोकव्याकुल होकर राजाके समीपमें गिर पड़ीं। राजाने अपने मधुर वचनामृतसे पुनः उन्हें बोध कराया ॥ ६९ ॥

अधिरजन्यधिभूम्यथ दम्पती
अकुरुतां शयनं हि पृथक् पृथक्।
विधिकरोन्मिषितं च कदक्षरं
गतमहो नितरां चरितार्थताम् ॥७०॥

इसके पश्चात् राजाने और रानीने रात्रिमें पृथ्वीपर ही पृथक्-पृथक् शयन किया। अहा! ब्रह्माके हाथसे लिखे हुए दुष्ट अक्षर आज चरितार्थ होगये ॥ ७० ॥

प्रियवियोगजशोककदर्थिता
शयनमाशु जहौ च पतिव्रता।
स्मृतिरथो नृपतेः समवाहय-
न्मृदुलकञ्जकरेण पदाम्बुजे ॥७१॥

राजाके वियोगजन्य शोकसे पीडित पतिव्रता स्मृतिको निद्रा नहीं आयी। वह शीघ्र उठ बैठीं और अपने करकमलोंसे राजाके चरणकमलकी सेवा करने लगीं ॥ ७१ ॥

इति निशां विगमय्य भुवां पतिः
परिसमाप्तविभातविधिः पुनः।
सकृदिनासन आस्य पुरोहितं
सकलधीसचिवान्समजूहवत् ॥७२॥

इस प्रकारसे रात्रि व्यतीत करके, राजाने प्रातःकाल नित्यनियम करके सिंहासनपर बैठकर पुरोहित और सम्पूर्ण अमात्योंको बुलवाया ॥ ७२ ॥

प्रकृतयः सकलाश्च समाहृता
अधिकृता अनुजीविन आगताः ।
प्रणिधयः पदिकाश्च निषादिनः
सुभटसादिगणाः पृतनापतिः ॥७३॥

सम्पूर्ण प्रजाको भी एकत्रित कराया। अधिकारिवर्ग और सेवकवर्ग भी आये। गुप्तचर, पैदल सिपाही, हाथीसवार सुन्दर योद्धा घुड़सवार और सेनापति ये सब वहाँ एकत्रित हुए ॥ ७३ ॥

नृपतिराह विलोक्य समाञ्जनान्
भगवतः कृपया त्रिविधैषणाः ।
व्यपगता हृदयादत एव मो-
रहमये विपिनेषु मुनिर्भवन् ॥७४॥

राजाने सब लोगोंकी ओर देखकर कहा कि भगवान्की अनुकम्पासे मेरे हृदयमेंसे तीनों प्रकारकी एषणाएँ दूर हो गयी हैं। अतः मैं विरक्त होकर जङ्गलमें जाता हूँ ॥ ७४ ॥

यदि मया भवतां परिषेवणे
त्रुटिरकारि कदापि मतिभ्रमात् ।
प्रियतमेषु भवत्सु हि तत्कृते
विहित एष पुनः पुनरञ्जलिः ॥७५॥

हे प्रजाजनो ! यदि आपकी सेवामें मुझसे त्रुटि हुई हो तो उसकेलिये हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ ॥ ७५ ॥

उपकृतीरतनिष्ट च या ममा
कुरुत यां सततं मयि सद्दृशम् ।
हृदयतः परमेश्वरसाक्षिकं
तदपि वः सततं बहु धारये ॥७६॥

आप लोगोंने जो मेरा उपकार किया है और मेरे ऊपर जो सुन्दरदृष्टि की है, परमेश्वरको साक्षीकरके उसकेलिये मैं आप लोगोंका अत्यन्त ऋणी हूँ ॥ ७६ ॥

अनुज एष नृपो भविताऽधुना
कुरुत राजमतिं च नवाधिपे ।
रतिमवाप्नुत धर्मपथे चिरं
विसृजताद्य सुखेन च मामितः ॥७७॥

यह मेरा छोटा भाई अब राजा होगा। अब इस नूतन राजामें राजबुद्धि करें। धर्ममार्गमें आप लोगोंकी बुद्धि चिरकालपर्यन्त बनी रहे और आज सुखसे मुझे जानेकी आज्ञा दें ॥ ७७ ॥

इति गिरा नृपतेर्हृदयस्पृशा
प्रकृतिषूपगतासु च तत्क्षणम् ।
निचय आविरभून्नितरां शुचां
भुवमसिक्त तदक्षिपयःस्रुतिः ॥७८॥

राजाके ऐसे वचनको सुनकर उपस्थित प्रजावर्ग में अत्यन्त शोक प्रसृत हो गया। सबके नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी ॥ ७८ ॥

करुणरसनिमग्नान्बान्धवान्वीक्ष्य राजा,
प्रियवचनविलासैस्तोषयामास सर्वान् ।

हृदयपटलनीतं शोकशङ्कुं निरस्य,
प्रकृतिमधिनिनाय प्राञ्जलौजाः समस्तान् ॥७९॥

राजाने सबको करुणरसमें निमग्न देखकर प्रियवचनोंसे सबको सन्तुष्ट किया। उनके हृदयगतशोक दूर कर शान्ति प्राप्त कराया ॥ ७९ ॥

बन्धुं च पार्श्वे स्थितमाह राजा
वात्सल्यतोद्धाऽऽशु सदैव वत्स।
इमाः प्रजाः स्युस्तव रक्षणीया
इतः परो नास्ति नरेन्द्रधर्मः ॥८०॥

पश्चात् राजा अपने समीपमें बैठे हुए बन्धुसे कहने लगे कि वत्स! वात्सल्यभावसे सदा प्रजाओंकी रक्षा करना। इससे अन्य, राजाका धर्म नहीं है ॥ ८० ॥

एवं विधाय नृपतिः सकलां व्यवस्थां,
राज्ये निधाय निजबन्धुमुदारचेताः।
यातो रुदा यतिपतेः सविधे स शीघ्रं,
सर्वाः प्रजास्तमनुजग्मुरधीरचित्ताः ॥८१॥

राजा इसप्रकार समस्तव्यवस्था करके, राज्यके ऊपर अपने छोटे भाईको बैठाकर, शीघ्र यतिराजके समीप गये। अधीरचित्तवाली प्रजा भी उनके पीछे-पीछे गयी ॥ ८१ ॥

आज्ञापिताश्च चलितुं यतिना स्वशिष्याः,
सज्जा बभूवुरधिगम्य गुरोरनुज्ञाम्।
श्रीरामचन्द्रचरणस्मरणं विधाय,
पूज्यः पुरस्तदनु शिष्यगणः प्रतस्थे ॥८२॥

श्रीपीपाजीके आनेपर यतिराजने शिष्यों को चलनेकी आज्ञा दी। वे लोग शीघ्र सज्ज हो गये। भगवान्‌के चरणोंका स्मरण करके आगे-आगे श्री यतिराज और उनके पीछे-पीछे शिष्यमण्डली चली ॥ ८२ ॥

विलोक्य भूपं मुनिवेषधारिणं
प्रजाजनो दीनतमोऽभवत्तदा ।
रुदन्नधीरो विलपँस्तपञ्श्वस-
न्ननाम मूर्ध्ना विनतेन तत्पदे ॥८३॥

प्रजा अपने राजाको मुनिवेष धारण किये हुए देखकर अत्यन्त कातर हो गयी। रोती हुई, विलाप करती हुई, सन्तप्त होती हुई, उच्छ्वास लेती हुई प्रजाने राजाको प्रणाम किया ॥ ८३ ॥

नतेन मूर्ध्ना प्रणमन्तमात्मनः
सहोदरं तं विरहार्तिविह्वलम् ।
विरक्तपीपाऽश्रुमुचं निरीक्ष्य स-
न्मनः कथंचिद्विदधे व्यवस्थितम् ॥८४॥

विरहसे व्याकुल होते हुए और प्रणाम करते हुए सामने छोटे भाईको देखकर विरक्तपीपाजीने किसी-किसी प्रकारसे अपने उत्तम मनको चंचल होने से रोक लिया ॥ ८४ ॥

स्खलद्गिरा नूतनभूपतिं सुखं
प्रणीय माङ्गल्यवचोभरैर्मुहुः ।
कृपासुधास्निग्धदृशा कृतार्थय-
न्दृशौ कथंचित्तत आचकर्ष सः ॥८५॥

छोटे भाईको गद्‌गदवचनसे आशीर्वाद देकर कृपादृष्टिसे देखते हुए महाकष्टसे, पीपाजीने उनकी ओरसे दृष्टि खींच ली ॥ ८५ ॥

पतिव्रता सा स्मृतिरप्यधीश्वरी
सरूपतां संव्रजितेव दीनता ।
विनीतवेषा जलसंप्लुतेक्षणा
प्रियाङ्घ्रियुग्मे प्रणनाम सादरम् ॥८६॥

मूर्तिमती दीनताके समान, विनीतवेष धारणकी हुई, आँखोंमें अश्रुजल भरी हुई, महाराणी स्मृतिने भी अपने प्रियतमके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ८६ ॥

अभूतपूर्वं सुरसंघ ईक्षितुं
समाययौ दृश्यमिदं त्रिविष्टपात् ।
दिवः पतन्ती हरिचन्दनोद्गत-
प्रसूनवृष्टिर्द्युभकाववेष्टयत् ॥८७॥

पत्नी यति होनेकेलिये अपने पतिको प्रेमसे विदा कर रही है इस अपूर्व दृश्यको देखनेकेलिये स्वर्गसे देवता भी चले आये थे। उस समय आकाशसे कल्पवृक्षके पुष्पोंकी वृष्टिने राजा और रानीको ढँक दिया ॥८७॥

यतेरनुज्ञामधिगृह्य पौराः
पूर्वं च तं राजवरं च पश्चात् ।
प्रणम्य भूयो गमनान्निवृत्ता
अवस्थितास्तत्र सराजदाराः ॥८८॥

नगरवासी लोग श्रीयतिराजकी आज्ञासे, प्रथम यतिराजको और पश्चात् श्रीपीपाजीको पुनः प्रणाम करके गमनसे निवृत्त होकर राजपत्नी महाराणी स्मृतिके साथ वहीं खड़े रहे ॥ ८८ ॥

विज्ञाय ते दृष्टिपथादतीतान्
पूज्यान्निवृत्तौ विदधुर्मनांसि ।

प्रियच्छिदं दैवगतिं निनिन्दु-
राचुक्रुशुः स्वं भवनं च जग्मुः ॥८९॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते
श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये त्रयोदशः सर्गः ।

जब यतिराज और उनके शिष्य प्रजाकी आँखोंसे ओझल हो गये तब लोगोंने चलनेका विचार किया। प्रियजनका वियोग करानेवाली निर्दया दैवगतिकी निन्दा करते हुए नगरवासी गांगरौनगढको लौट आये ॥८९॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामा-
नन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां त्रयोदशः सर्गः ।

चतुर्दशः सर्गः

अथ व्रजन् रैवतकं विपश्चि-
द्यमिव्रजैः सार्धमघमर्षणीयः ।
ददर्श दुर्धर्षमसावहार्य्य-
महार्यधैर्य्याधिपतिर्यतीशः ॥ १ ॥

गांगरौन गढ़से चलते हुए श्रीस्वामीजी महाराजने दुर्धर्ष रैवतक पर्वतको (गिरनारको) देखा ॥ १ ॥

नीलोत्पलश्यामतनुं तनुस्था
मायामसंवेष्टितभूविभागम् ।
रत्नांशुसन्तानलसत्प्रभाभि-
र्विभूषितं भूषितकृष्णमूर्तिम् ॥ २ ॥

रैवतकका वर्णन सातश्लोकोंमें करते हैं। नीलकमलके समान श्यामवर्णवाले, तनुस्था = स्वशरीरस्थ, मा = लक्ष्मीके, आयाम = विस्तारसे पृथ्वीके विभागको घेरनेवाले, रत्नकिरणोंके समूहकी कान्तिसे विभूषित, और जिसमें भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति शोभित हो रही थी—॥ २ ॥

मरुद्धुताभिर्व्रततीभिरत्र
लास्यैः पतद्भिः सुमनोभिरर्च्यम् ।
आमोदमाद्यन्मधुपाभिरामै
रामाभिराचर्च्यमिवाचर्च्यमानम् ॥ ३ ॥

जैसे स्त्रियाँ पुष्पादि और नृत्यादिसे किसी पूज्यकी पूजा करती हों वैसे ही वायुसे प्रकम्पितलताओंसे, लास्यके द्वारा, तथा सुगन्धिसे उन्मत्त भ्रमरोंसे सुन्दर पुष्पोंके द्वारा वह रैवतक पूज्यमान था—॥ ३ ॥

कुलायनीडोद्भवभूरिरावै-
रुपव्रजन्तं मुनिमादिदेवम् ।
निशम्य तद्दर्शनकाङ्क्षयैव
मूर्द्धानमुत्थाप्य विलोकमानम् ॥ ४ ॥

घोसलोंके पक्षियोंके महान् कलकलसे आदिदेव मुनीश्वर श्रीस्वामीजी महाराजको आते हुए सुनकर, उनके दर्शनकी लालसासे मस्तक उठाकर जो देख रहा था—॥ ४ ॥

दिवाकरोद्दामतपःप्रभाभि-
र्मा भून्मुनेः संचरतः पृथिव्याम् ।
तापो विचार्येति रथं निरोद्धुं
रवेरुपर्येव जवेन यान्तम् ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर चलते हुए श्रीस्वामीजी महाराजको सूर्यके प्रचण्ड धामकी

प्रभासे पीडा न हो ऐसा विचारकर सूर्यके रथको रोकनेकेलिये जो मानो ऊपरकी ओर जा रहा था—॥ ५ ॥

शनैः समीरेरितशाखिशाखा-
नमद्भुजैः पुण्यपदारविन्दम् ।
स्प्रष्टुं विधित्सन्तमिव प्रयत्नं
महागुरोस्तस्य गृहागतस्य ॥ ६ ॥

अपने घरपर पधारे हुए महान् गुरु श्रीस्वामीजीमहाराजके चरण-कमलोंको, मन्द-मन्द वायुसे कम्पितवृक्षोंके शाखारूप झुकते हाथोंसे स्पर्श करनेकेलिये मानो जो प्रयत्न करनेकी इच्छा कर रहा था—॥ ६ ॥

जलापयानेन विपाण्डुवर्णं
चक्राङ्गपत्रप्रतिमप्रभाकम् ।
धाराधराणामतिशोभपुञ्जं
मुनेः कृते छत्रमिवादधानम् ॥ ७ ॥

हंसके पक्षसमानप्रभावाले, जलके चले जानेसे धवलवर्णवाले, परम रमणीयमेघके पुञ्जको, जो श्रीस्वामीजीमहाराजकेलिये, छत्रसमान धारण कर रहा था ॥ ७ ॥

अम्भोरुहाम्भोरुहसन्निकृष्ट-
भ्रमद्द्विरेफालिमनोज्ञशब्दैः ।
जगत्त्रयातीतजगत्त्रयाति-
गुणान् प्रगायन्तमिवोच्चकैस्तम् ॥ ८ ॥

अम्भोरुह = जलमें उगनेवाले, अम्भोरुह = कमलोंमें भ्रमण करते हुए भ्रमरों के मनोहरशब्दोंसे जगत्त्रयसे परे भगवान् श्रीरामानन्दस्वामीजी महाराजके तीनों जगत्के उल्लङ्घन करनेवाले गुणोंको, जो उच्च स्वरसे गा रहा था ॥ ८ ॥

आयान्तमालोक्य यतिप्रकाण्डं
दिवौकसस्ते त्रिदशालयस्थाः ।
विमानमानीय मनोभिरामं
भुवि स्थिता नेतुमधिक्षमाभृत् ॥ ९ ॥

स्वर्गनिवासी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देवता श्रीयतिराजमहाराजको आते हुए देखकर उस रैवतकपर्वतपर लेजानेकेलिये अत्यन्तरमणीय विमान लेकर पृथ्वीपर खड़े थे ॥ ९ ॥

यदा मुनीन्द्रः समगंस्त तस्य
विशालशैलस्य समीपदेशे ।
तदा च वृन्दारकवृन्दमूचे
विनम्रवाचा यतिराजमित्थम् ॥१०॥

श्रीस्वामीजी महाराज जब उस विशालपर्वतके समीपप्रदेशमें आ गये तब सब देवता कोमलवाणीसे स्वामीजीसे इसप्रकार निबेदन करने लगे ॥ १० ॥

दिवस्पतिस्त्वां यतिसार्वभौम
प्रतीक्षते द्रष्टुमधित्यकायाम् ।
दयां दयाधीश विधाय गन्तुं
तत्रार्हसि त्वं महिताब्जपाद ॥११॥

हे यतिराज ! देवराज आपका दर्शनकरनेकेलिये इस पर्वतकी अधित्यका—ऊपरके प्रदेशमें आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हे पूज्यचरण और हे दयालो ! कृपा करके आप वहाँ पधारें ॥ ११ ॥

स्वीकृत्य तेषां सनतिं प्रणीता-
मभ्यर्थनामद्रिमुदारचेताः ।

पवित्रयिष्यन्सुमनोविमानं
यतिः सशिष्यः सहसारुरोह ॥१२॥

उन देवताओंकी नम्रतापूर्वक की गयी हुई प्रार्थनाको उदारचित्तवाले श्रीस्वामीजीमहाराज सुनकर उस पर्वतको पवित्र करनेकेलिये शिष्यों सहित देवविमानपर चढ़ गये * ॥ १२ ॥

स्तम्भैः सहस्रैः शुचिशातकुम्भै-
र्विनिर्मिते निर्मितिदक्षदक्षैः ।
शृङ्गारिते मौक्तिकतोरणाद्यै-
र्भव्ये मनोहारिणि मण्डपेऽत्र ॥१३॥
विमानमागत्य शिलोच्चयेस्मि-
न्नवातरद्योगिपदाब्जजुष्टम् ।
यतीश्वरस्याधिपदारविन्दं
ननाम सौवागतिकः सुरेन्द्रः ॥१४॥

अत्यन्तनिपुणशिल्पियोंसे सोनेके सहस्रों स्तम्भोंद्वारा बनाये गये हुए, तथा मोतियोंके तोरणोंसे सजाये हुए, उस पर्वतपर बनाये हुए रमणीय और मनोहर मण्डपमें श्रीस्वामीजीका विमान आकर नीचे उतरा। श्रीयतीन्द्रके चरणारविन्दमें स्वागत करनेवाले देवेन्द्रने आकर प्रणाम किया ॥ १३ ॥ ॥ १४ ॥

महार्घरत्नोच्चयसम्परीतं
प्रणीतमष्टापदसन्निवेशैः ।

---

* ब्रह्मचर्याश्रममें प्रयागसे काशी जाते समय स्वामीजीने (ब्रह्म० रामानन्दने) विमानका त्याग किया था। संन्यासाश्रममें समयानुकूल उसका ग्रहण किया था।

मणिप्रभाभासितसर्वदेश-

मुद्गन्धिमन्दारसुमाधिवासम् ॥१५॥

भद्रासनं भद्रतमं महोच्चैः

सनत्युपावीविशताधिनाथम् ।

अक्ष्णां सहस्रेण च वासवोऽसौ

मुनीन्द्रपादाब्जरसं निपीय ॥१६॥

इन्द्रने अपने सहस्रनेत्रोंसे श्रीस्वामीजीके चरणकमलोंका रसपान करके बहुमूल्य रत्नोंसे जटित, सुवर्णनिर्मित, जिसकी मणियोंकी प्रभासे वहाँके सर्वप्रदेश प्रकाशित हो रहे थे, जिसमें उत्कृष्टगन्धवाले मन्दारके फूलोंका सुगन्ध आ रहा था। ऐसे कल्याणस्वरूप और मनोहर भद्रासन— राजोचित आसनपर विनयपूर्वक श्रीस्वामीजी महाराजको बैठाया ॥१५-१६॥

नाथं यतीनां त्रिदशाधिनाथो

दिवौकसः पञ्चजनाः क्रमेण ।

समार्चिचन्नर्च्यतमं धराया

भाग्योद्भवं भावयितुं सुवीतम् ॥१७॥

पृथ्वीके भाग्यको बढ़ानेकेलिये पृथ्वीपर प्राप्त हुए श्री यतिराजकी, सबसे प्रथम देवराज इन्द्रने पूजाकी। पश्चात् अन्य देवोंने। पश्चात् मनुष्योंने ॥ १७ ॥

ततः परं दुर्लभतामवेक्ष्य

विना यतीशस्य पदारविन्दम् ।

मुक्तेश्च मुक्तेर्भविनां मरुत्वा-

नतिष्ठिपच्छ्रीयतिपादुकाङ्कौ ॥१८॥

पश्चात् इन्द्रने विचार किया कि भगवत्स्वरूप इन श्रीस्वामीजीके

चरणकमल विना भुक्ति और मुक्ति दोनों ही दुर्लभ हैं। अतः उन्होंने वहाँपर श्रीस्वामीजीकी चरणपादुकाकी स्थापना करायी। (जो कि आज तक वहाँ वर्तमान है।) ॥ १८ ॥

स्वर्गान्मनोमोदविधित्सया ये
देवाः समायान्त्विह तैः सुभद्रैः।
विलासतर्षिप्रवरैर्मया च
समर्चनीया यतिपादुकेयम् ॥१९॥

इन्द्रने देवोंसे कहा कि इस पर्वतपर क्रीडा करनेकी इच्छासे स्वर्गसे जो देव आवें, वे परमविलासी देव, इस चरणपादुकाकी अवश्य पूजा करें। मैं आऊं तो मैं भी पूजा करूं ॥ १९ ॥

आज्ञाप्य सर्वाञ्शतमन्युरेवं
यतीश्वरादेशमयं स्वमूर्ध्ना।
वहन्विमानेन मुनिं विसर्ज्य
स्वयं ययौ सादितिनन्दनः स्वः ॥२०॥

इन्द्रराज इस प्रकार सबको आज्ञा देकर, श्री स्वामीजी महाराजकी आज्ञाको मस्तकपर धारण करते हुए श्रीस्वामीजीको विदा करके विमान पर चढ़कर स्वयं भी सब देवों सहित स्वर्गको गये ॥ २० ॥

भूमिं समागत्य पुनर्यतीशो
भुवं पुनानो जलजाङ्घ्रिचारैः।
सद्यः स्वतन्त्रो निखिलेषु तन्त्रे-
ष्ववापि केनापि जिनाध्वगेन ॥२१॥

पृथ्वीपर आकर नंगे पगसे पृथ्वीको पवित्र करते हुए जब निखिल-तन्त्रस्वतन्त्र श्रीस्वामीजी चल रहे थे उसी समय कोई जैन साधु मिला ॥२१॥

वेषं निरीक्ष्यास्य स वैदिकानां
हास्यं विधायेति वचो जगाद ।
धूर्तैर्निकामं परिकल्पितेषु
वेदेषु जागर्ति कथं तवास्था ॥२२॥

वह जैनी प्रथम स्वामीजीके त्रिदण्डीवेषको देखकर, वैदिकोंको हँसी करके इस प्रकार बोला कि वेदोंको तो धूर्तोंने बनाया है उसमें आपकी आस्था कैसे स्थिर है ? ॥ २२ ॥

श्रुत्वा वचः कुन्तललुञ्चकस्य
दूनं मनस्तस्य यतेर्निकामम् ।
यो वेदपाथोनिधिपारदर्शी
निन्दां श्रुतीनां शृणुयात्कथं सः ॥२३॥

उस केशलुञ्चक जैनसाधुकी बात सुनकर यतिराजके हृदयमें परमदुःख हुआ । क्योंकि जो वेदरूपसमुद्रका पारदर्शी हो वह वेदोंकी निन्दा कैसे सुने ? ॥ २३ ॥

उवाच शान्त्या स शमप्रधानो
यतीश्वरस्तं च शिरोरुहाणाम् ।
उत्पाटकं स्नानपराङ्मुखत्वाद्-
दुर्गन्धसम्पीडित सर्वकायम् ॥२४॥

परमशान्त श्रीस्वामीजी महाराज शान्तिके साथ, केशनोचनेवाले तथा स्नान न करनेसे दुर्गन्धित शरीरवाले उस जैन साधुसे बोले ॥ २४ ॥

ये धर्मकान्तारपरिच्युताः स्यु-
र्ये चापि जाड्यान्धपराहताः स्युः ।

तेषां समेषां पथिदर्शकेषु
वेदेषु कस्तेऽयमपप्रलापः ॥२५॥

धर्मपतित और अज्ञानान्धकारसे पीडित जनोंकेलिये मार्गप्रदर्शक वेदोंके विषयमें तुम कैसा अपशब्द बोलते हो ! ॥ २५ ॥

जगाद भूयो विरते यतीन्द्रे
मुखेन दुर्गन्धिगरं वमन् सः ।
वेदैः सदारस्य विबोधितस्य
विष्णोः कथं स्याज्जगदीश्वरत्वम् ॥२६॥

वह पुनः बोला । "श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च" इत्यादि मन्त्रोंसे वेद विष्णुकी स्त्रीका वर्णन करते हैं । जो सस्त्रीक हो वह जगत्का ईश्वर—स्वामी कैसे हो सकता है ? ॥ २६ ॥

सदारतायाः प्रतिबन्धकत्वं
यदीश्वरत्वस्य विभाव्यतेऽद्धा ।
तद्ब्रूहि किं कारणमस्ति तत्र
यतीश्वरः प्रत्यवदत्तमेवम् ॥२७॥

श्रीस्वामीजीने उसको उत्तर दिया कि यदि तुम स्त्रीसहित होनेको ईश्वरताका प्रतिबन्धक मानते हो तो उसका कारण बताओ ॥ २७ ॥

स प्रत्युवाचाथ यदीश्वरत्वं
दारान्वितस्यापि मतं त्वया स्यात् ।
समादरः केन तवास्ति विष्णा-
वेवान्यजीवेषु कथं न तत्त्वम् ॥२८॥

वह साधु बोला कि यदि आप सस्त्रीकको भी ईश्वर मानते हैं

तो क्या कारण है कि केवल विष्णुको ही ईश्वर मानते हैं? अन्य सत्री-कजीवोंमें भी ईश्वरता क्यों नहीं स्वीकार करते? ॥ २८ ॥

सर्वज्ञताहानिरसर्वगत्व-
मसर्वशक्तित्वमथापि तेषाम्।
जागर्ति तत्त्वस्य निपीडनाये-
त्यवोचतामुं यतिसार्वभौमः ॥२९॥

श्रीस्वामीजीने उत्तर दिया कि जितने जीव हैं वे सर्वज्ञ नहीं हैं, सर्वव्यापक नहीं हैं तथा सर्वशक्तिमान् नहीं हैं; अत एव उनमें जगदीश्वरता नहीं मान सकते ॥ २९ ॥

कस्यापि जीवस्य सुकर्मशाखी
सर्वज्ञतां चेत्प्रसुवीत विद्वन्।
कथं न तस्यापि भवेत्प्रभुत्वं
विचारमूढः स जगाद जैनः ॥३०॥

वह अविवेकी जैनसाधु पुनः बोला कि यदि कोई जीव सुन्दरकर्म करता है और उसके फलसे किसीको सर्वज्ञताप्राप्त हो जावे तो उसे ईश्वर क्यों नहीं मान सकते ॥ ३० ॥

न विद्यते कर्म हि किञ्चिदस्यां
सर्वज्ञतां सोतुमलं जगत्याम्।
ममापि शास्त्रेषु तवापि तेषु
तस्मात्तथा नेत्यवदन्मुनीन्द्रः ॥३१॥

हमारे शास्त्रमें तथा तुम्हारे शास्त्रमें भी ऐसा कोई कर्म नहीं है जिससे इस लोकमें किसीको सर्वज्ञता प्राप्त हो जावे; ऐसा स्वामीजी महाराजने उत्तर दिया ॥ ३१ ॥

अघातिकर्माणि तथा च घाति-
कर्माणि ते सन्ति मतानि तावत् ।
घातीनि नो सज्जनने समर्था-
न्यवेक्षितानीति तवैव शास्त्रे ॥३२॥

घातिकर्म तथा अघातिकर्म ये ही दो प्रकारके कर्म तुमको माननीय हैं। इनमेंसे तुम्हारे ही शास्त्रमें लिखा है कि घातिकर्म किसी वस्तुको उत्पन्न नहीं करते ॥ ३२ ॥

अघातिकर्मस्वपि तादृगस्ति
न सम्मता शास्त्रकुलेऽपि शक्तिः ।
किमस्ति तेऽन्यन्मतमत्र कर्म
सविष्यते यत्तवकल्पवल्लिम् ॥३३॥

तथा अघातिकर्मोंमें भी तुम्हारे शास्त्रमें ऐसी शक्ति नहीं मानी गयी है जो सर्वज्ञतादिको उत्पन्न करे। तब बताओ तुम्हारे मतमें वह कौनसा कर्म है जो तुम्हारी कल्पलता—सर्वज्ञताको उत्पन्न करे? ॥ ३३ ॥

प्रयोक्तुकामः स च सप्त भङ्गी-
श्चातुर्यपल्यङ्कमथारुरोह ।
परन्तु वादाहवपण्डितोऽसौ
भङ्गान्सभङ्गान् यतिराड्व्यधत्त ॥३४॥

वह जैन साधु सप्तभङ्गीका प्रयोग करनेकेलिये चतुराई करने लगा; परन्तु शास्त्रार्थकलामें परमनिपुण श्रीयतिराजने सब भङ्गोंको भग्न कर दिया ॥ ३४ ॥

अहो अनेकान्तमतं मतं चे-
न्निखात एव स्वकृते त्वयैव ।

गर्तो महानित्यवदद्यतीन्द्रो
जैनोऽथ मौनं विदधे सलज्जः ॥३५॥

स्वामीजीने कहा कि यदि तुम अनेकान्तवाद स्वीकार करते हो तो तुमने अपनेलिये बड़ा भारी खड्डा खोद लिया। इतना सुनते ही वह जैनी समझ गया और लज्जित होकर चुप हो गया ॥ ३५ ॥

स योगिराजश्रितभूरिमानो
विराजमानाननसुन्दरश्रीः ।
अग्रेऽव्रजच्छिष्यगणैः समेतः
प्रचारयन्वैष्णवधर्मशिक्षाम् ॥३६॥

मानप्राप्तकर, सुन्दर मुखकी कान्तिवाले वह योगिराज अपने शिष्यों सहित वैष्णवधर्मकी शिक्षा प्रचार करते हुए आगे चले ॥ ३६ ॥

शनैः शनैरेष महानुभावः
स्थलीं यदूनां हृदयस्य योगी ।
शल्यं यथाऽपश्यदनिद्रदुःखो
विवर्णचन्द्रानन आर्द्रनेत्रः ॥३७॥

धीरे-धीरे महानुभाव श्रीयोगिराजने मलिनमुख तथा अत्यन्त दुःखित होकर भींजी आँखोंसे हृदयशल्यसमान यादवस्थलीको देखा ॥ ३७ ॥

ततः परं तत्र स सोमनाथं
रम्यालयं भग्नशिखं निरीक्ष्य ।
निर्वीर्यतामप्यथ हिन्दुजाते-
र्यतिक्षितीशो विमना मुमोह ॥३८॥

उसके पश्चात् टूटेशिखरवाले सोमनाथके रमणीयमन्दिरको देखकर तथा हिन्दूजातिकी निर्बलताको देखकर यतिराज व्याकुल हो गये ॥ ३८ ॥

हा हिन्दुता भारतवर्षतोऽद्य
गतेति मन्येऽवसितानि चास्य।
शुद्धावदानानि दिनानि तानि
सत्यं विधातुः प्रबला समीहा ॥३९॥

स्वामीजीने कहा, मैं समझता हूँ कि आज भारतवर्षसे हिन्दुत्व चला गया! इस देशके सुन्दरकर्म करनेके वे दिन चले गये! अहो! भगवान्‌की इच्छा प्रबल है! ॥ ३९ ॥

हे क्षत्रवंशाम्बररोचिरीशा
युष्मासु जीवत्स्वपि भारतस्य।
दशा विपन्ना न परं विपन्ना
यूयं महाश्चर्यमिदं ममाद्य ॥४०॥

हे क्षत्रियवंशरूप आकाश के सूर्य क्षत्रिय! तुम्हारे जीते-जीते भारतकी ऐसी दीन दशा हो गयी; परन्तु तुम लोग मर नहीं गये! मुझे तो यही आश्चर्य है ॥ ४० ॥

किमद्य शुष्कं बत युष्मदीये-
ष्वङ्गेषु तच्छोणितमग्रजानाम्।
नो चेत्कथं हिन्दुकुलाधिपूज्य-
सोमाधिनाथस्य दशेयमस्य ॥४१॥

क्या निश्चय ही, अभीसे तुम्हारे शरीरमेंसे पूर्वजोंका रक्त सूख गया? नहीं तो हिन्दुवंशके पूज्य सोमनाथकी यह दशा कैसे होती? ॥ ४१ ॥

यस्यां भुवि श्रीयदुनन्दनोऽपि
चिरं निवासं रचयाञ्चकार।

तस्या दशेयं हतभाग्यभाजो
मनो दुनोतीह न हिन्दुजातेः ॥४२॥

जिस सौराष्ट्रभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णने भी चिरकाल तक निवास किया था उसकी यह दशा हतभाग्यहिन्दुजातिके मनको पीड़ित नहीं करती है ! ॥ ४२ ॥

दिने दिने वर्धत एव मन्ये
कार्पण्यदोषोऽखिलहिन्दुलोके ।
नश्येदयं चेन्नहि शीघ्रमेव
नामापि नश्येन्ननु हिन्दुजातेः ॥४३॥

हिन्दुजातिमें दिन-दिन निर्बलता बढ़ती जाती है। यदि यह निर्बलतारूपदोष शीघ्र नष्ट न हुआ तो हिन्दुजातिका नाम भी नष्ट हो जावेगा ॥ ४३ ॥

एवं प्रतप्याथ ततो यतीशः
शनैःशनैर्द्वारवतीं जगाम ।
ततः परावृत्य दिनैस्स कैश्चि-
त्तामार्बुदीं कान्तिमवैक्षताशु ॥४४॥

इस प्रकारसे हिन्दुओंकी दशापर मुनीश्वर शोक प्रकट करके द्वारका गये। वहाँसे लौटकर कुछ दिनोंमें शीघ्र आबूकी शोभाका अवलोकन किया ॥ ४४ ॥

ऋषेर्वसिष्ठस्य भुवं लुलोके
महत्सरश्चापि नखीतिगीतम् ।
ददर्श तत्रैव तपोनिमग्नं
मलिन्दसूनुं महसां स राशिः ॥४५॥

वहाँ आबूमें वसिष्ठऋषिके आश्रमका तथा नखीनामक सरोवरका दर्शन किया। उसी नखीसरोवरके पास तपस्या करते हुए भलिन्दसूनुको महातेजस्वी यतिराजने देखा ॥ ४५ ॥

दिनद्वयं तत्र मुनिर्निवासं
सदेवतः शिष्यगणेन साकम् ।
विधाय देवैश्च विधाप्य भद्र-
रघूत्तमस्थानमनूनशोभम् ॥४६॥

भलिन्दसूनोः सविधे स्थितासी-
त्तत्पूजितैका रघुनाथमूर्तिः ।
संस्थाप्य तन्मन्दिर एव तामा-
तनोदुदारं जनतोपकारम् ॥४७॥

श्रीयतिराजने वहाँ देवताओं और शिष्योंके साथ दो दिन तक निवास करके, देवताओंके द्वारा श्रीरघुनाथजीका सुन्दरमन्दिर बनवाकर, भलिन्द-सुनु–मुनिके पास एक सु–पूजित श्रीरघुनाथजीकी प्रतिमा थी, उसे ही उस मन्दिरमें स्थापन करके जनताका महान् उपकार किया ॥ ४६-४७ ॥

निर्गत्य तस्मात्सम़जान्मुनीन्द्रः
क्षेत्रं ययौ पुष्करनामधेयम् ।
ततो जयश्रीमहितं पुरं स
आमेरनामाथ जगाम शिष्यैः ॥४८॥

आबूसे चलकर श्रीस्वामीजी पुष्करक्षेत्र गये। वहाँसे उपदेश करने-की इच्छासे शीघ्र जयपुरकी पुरानी राजधानी आमेर गये ॥ ४८ ॥

नृपो मुनेरागमनं विदित्वा
दिदृक्षया सादरमाजगाम ।

आतिथ्यमाधाय यतीश्वरेणा-
ज्ञप्तो व्यवस्थाः स चकार सर्वाः ॥४९॥

वहाँके राजा मुनीश्वरका आगमन सुनकर दर्शनकी इच्छासे शीघ्र उनके पास आये। यथोचित स्वामीजीमहाराजका अतिथिसत्कार करके आज्ञा पाकर प्रसन्न होकर राजमहलको गये ॥ ४९ ॥

उवास तत्रर्षिवरो दिनानि
चत्वारि वा पञ्च प्रजाहितार्थम्।
श्रीवैष्णवानामुपदिश्य धर्म-
मवन्तिकां सोऽथ ततो जगाम ॥५०॥

श्रीस्वामीजी वैष्णवधर्मोपदेश करते हुए वहाँ पाँच-छ दिन रहे। पश्चात् धीरे-धीरे उज्जैन गये ॥ ५० ॥

क्षिप्रातटे वासरमेकमेव
नीत्वा सशिष्यो यतिराजराजः।
व्रजं व्रजेशस्य जगाम यत्र
लीला अनेकाः कृतवान्स कृष्णः ॥५१॥

वहाँ क्षिप्रानदीके तटपर शिष्योंसहित श्रीस्वामीजी एक दिन निवास करके नन्दके व्रजमें गये जहाँ श्रीकृष्णजीने अनन्तलीलाएँ की हैं ॥ ५१ ॥

ततः प्रियां स्वां स पुरीमयोध्या-
मागत्य वासं कृतवान् सरय्वाः।
तटे विशुद्धेऽनुददर्श जन्म-
भूमिं क्रमादागतवान्स काशीम् ॥५२॥

उसके पश्चात् अपनी प्रियपुरी अयोध्यामें आकर श्रीसरयूजीके पवित्र

तटपर निवास किया। पश्चात् जन्मभूमिका दर्शन किया और उसके पश्चात् क्रमसे काशी आ गये ॥ ५२ ॥

धर्मो विनाशमुपयाति दिने दिनेऽत्र,
श्रद्धाधनं विगलितं गलितोऽभिमानः ।
वीर्यादिकं त्यजति हिन्दुजनाँस्ततस्ते,
म्लेच्छप्रहारदलने विवशा बभूवुः ॥५३॥

कथङ्कारं भवेद्रक्षा समयेऽस्मिन्विशङ्कटे ।
हिन्दूनामिति सन्तस्थे मुनिस्तत्र विचारयन् ॥५४॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये चतुर्दशः सर्गः ।

दिन-दिन धर्मका नाश हो रहा है। श्रद्धारूपधन नष्ट हो गया। आत्मगौरव क्षीण हो गया। वीर्य, बल आदि हिन्दुओंको छोड़ रहे हैं। अतः वे हिन्दु म्लेच्छोंके आक्रमणको दलन करने में अशक्त हो गये हैं। इस महाविकरालसमय में हिन्दुओंकी रक्षा कैसे होगी, इस प्रकार विचार करते हुए श्रीस्वामीजी काशीमें ही रहने लगे ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां चतुर्दशः सर्गः ।

अथ पञ्चदशः सर्गः

सदासनसमासीनं सर्ववैभवभूषितम् ।
कीर्तिनिन्दितशुभ्रांशुं तरङ्गितजनोदधिम् ॥ १ ॥
भव्यभक्तिरमाकान्तं रमाकान्तमिव स्फुटम् ।
धामनिध्यधिधामानममानं मानिमानितम् ॥ २ ॥
त्र्यय्यन्तान्तविबोधित्वबोधकं सुमनोहरम् ।
त्रिदण्डं दधतं पुण्यमन्तर्ध्यायन्तमीश्वरम् ॥ ३ ॥
अन्यैश्च बहुभी रामरसिकैः परिवेष्टितम् ।
यतिराजं कनिष्ठाख्यो दण्डी कश्चिदुपेयिवान् ॥४॥

सुन्दर आसनपर बैठे हुए, शम, दमादि समस्त वैभवोंसे युक्त, सुन्दरकीर्तिवाले, असंख्य मनुष्योंसे घिरे हुए ॥ विष्णुसमान सुन्दरभक्तिरूपरमाके स्वामी, सूर्यसमान उज्ज्वलतेजवाले, अपरिमितशक्तिवाले, मानिपुरुषोंसे सम्मानित ॥ वेदोंके पाण्डित्यको बोधन करनेवाले सुन्दर त्रिदण्डको धारण करनेवाले, ईश्वरध्यान करते हुए ॥ अन्य अनेकों रामभक्तों से घिरे हुए, श्रीस्वामीजीके पास कनिष्ठनामक एक दण्डी आया ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कनिष्ठोऽपि कनिष्ठोऽसौ कौमारीं पदवीं वहन् ।
मायावी तत्र निर्माय स्वमायामधितस्थिवान् ॥ ५ ॥

वह कनिष्ठ स्वभावसे भी कनिष्ठ क्षुद्र था । कार्तिकेयके सम्प्रदायका अनुयायी था । वह मायावी अपनी माया रचकर वहाँ बैठ गया ॥ ५ ॥

स विष्णुपदसम्प्राप्तो महाविष्णुं परीक्षितुम् ।
रुधिराणि च मांसानि प्रववर्ष प्रवर्वरः ॥ ६ ॥

वह धूर्त आकाशमें जाकर महाविष्णुस्वरूप स्वामीजीकी परीक्षा करनेके लिये रक्त और मांसकी वर्षा करने लगा ॥ ६ ॥

तदनन्तरमह्णाय हीनवृत्तेन भीतिदा ।
आश्रयाशमहावृष्टिस्तेने तेनेह पुष्कला ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् वह नीच अग्निकी महती वृष्टि करने लगा ॥ ७ ॥

क्षमाशीलक्ष्माशीला वैष्णवा अपरे तदा ।
विकला विकला जाता ज्वलनज्वालचुम्बिताः ॥८॥

क्षमाशीलपृथ्वीके समान क्षमाशील अन्यवैष्णव विकल-ज्ञानशून्य होकर, अग्निकी ज्वालासे स्पृष्ट होकर व्याकुल हो गये ॥ ८ ॥

प्रतीकारं न ते चक्रुः प्रतीकारक्षमा अपि ।
प्रतीक्षितनिजाचार्यशासनाक्षरराशयः ॥९॥

आचार्यकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करनेवाले अन्य वैष्णवोंने उपाय करनेमें समर्थ होनेपर भी गुरुकी आज्ञा बिना उपाय नहीं किया ॥ ९ ॥

परस्परं समामन्त्र्य समाधिस्थं जगद्गुरुम् ।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रं तं तुष्टुवुर्वैष्णवास्तदा ॥१०॥

वे सब वैष्णव परस्पर विचार करके समाधिमें बैठे हुए, सर्वविद्याविशारद जगद्गुरु श्रीस्वामीजी महाराजकी स्तुति करने लगे ॥१०॥

तत्कृतस्तुतिगम्भीरशब्दनिर्घोषबोधितः ।
अभिभज्य समाधिं तं तमाधिं सन्ददर्श सः ॥११॥

वैष्णवोंकी स्तुतिके गम्भीरशब्दके कोलाहलसे जगाये गये हुए श्रीस्वामीजीने उस समाधिको छोड़कर उस दुःखको देखा ॥ ११ ॥

सर्वज्ञः स समालोच्य मायां बुद्ध्वा च मायिनः ।
प्रामीणीत च तामासन्समस्ता अस्तभीतयः ॥१२॥

श्रीस्वामीजी तो सर्वज्ञ थे। उन्होंने सब विचारकर मायावीकी माया-को जानकर उसे नष्ट कर दिया। तब सब लोग निर्भय हो गये॥ १२॥

कनिष्ठोदरमध्येऽभूद्गरिष्ठा सम्प्रतिष्ठिता।
प्राणपीडाकरी पीडा को न भुङ्क्ते कृतं निजम्॥१३॥

कनिष्ठके पेटमें बड़ी भारी पीड़ा उत्पन्न हुई। प्राणसङ्कट उपस्थित हुआ। सत्य है, अपने कियेको कौन नहीं भोगता?॥ १३॥

त्राहि त्राहीति मूर्खेण क्रोशता तेन विस्वरम्।
श्रुतिसम्पुटसम्भेदिशब्दजालमिदं श्रुतम्॥१४॥

जब वह अपने इष्टदेव कुमारको बुला रहा था कि 'रक्षा करो रक्षा करो' उस समय उसने इस शब्दको सुना॥ १४॥

अरे रे सद्रे मूर्ख त्वमिदं चारु नाचरीः।
व्यग्रहीर्यदनेन त्वं योगिवर्येण धीमता॥१५॥

अरे सत्पुरुषोंके शत्रु, तूने यह अच्छा नहीं किया जो व्यर्थमें स्वामी-जीके साथ विग्रह किया॥ १५॥

अघोराणां परो मन्त्रो राममन्त्रः प्रकीर्तितः।
तदाचार्य्यवरेणैवं नोचितो विग्रहग्रहः॥१६॥

अघोर (कल्याणप्रद) मन्त्रोंकी अपेक्षा राममन्त्र सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उस श्रीराममन्त्रके आचार्यके साथ विग्रह करना उचित नहीं है॥ १६॥

वैष्णवाचार्य्यवर्य्योऽयं निसर्गकरुणापरः।
त्यक्त्वा मृषा मदं तस्य चरणं शरणं व्रज॥१७॥

यह वैष्णवाचार्य स्वभावसे ही दयालु हैं। अतः मिथ्याभिमानको त्यागकर उनके चरणशरणमें जा॥ १७॥

क्षंस्यते त्वां स योगीन्द्रो दण्डनीयोऽसि यद्यपि ।
एतदेव महत्त्वं यच्छत्रुपक्षेऽप्यनुग्रहः ॥१८॥

यद्यपि तुम दण्डके योग्य हो तथापि वह तुमको क्षमा कर देंगे; क्योंकि शत्रुपक्षपर भी दया करना ही महत्व है ॥ १८ ॥

इतः परं परं कैश्चित्सहसा सिद्धवैष्णवैः ।
विग्रहे नाग्रहो ग्राह्यो मा विस्मार्षीर्वचो मम ॥१९॥

परन्तु अबसे किन्हीं सिद्धवैष्णवों के साथ विग्रहकी आकांक्षा नहीं करना । इस मेरे वचनको भूलना नहीं ॥ १९ ॥

वाचमेतां समाकर्ण्य हितदामशरीरिणीम् ।
प्राप शीघ्रं यतिं स्वार्थे विलम्बं सहते हि कः ॥२०॥

इस आकाशवाणीको श्रवणकरके वह कनिष्ठ तत्काल ही स्वामीजीके पास गया । क्योंकि स्वार्थमें कोई भी विलम्ब नहीं करता ॥ २० ॥

बद्धाञ्जलिर्नमन्मूर्ध्ना वेपमानोऽपमानितः ।
पुरस्तादागतस्तत्र यतिराजस्य पामरः ॥२१॥

कनिष्ठ हाथ जोड़े हुए, काँपता हुआ, अपमानित होकर नतमस्तकसे श्रीस्वामीजीके आगे आया ॥ २१ ॥

नाम्ना कनिष्ठ एवाहं कनिष्ठोऽस्मि च वस्तुतः ।
त्वां परीक्षितुकामोहं नाथ दुष्कृतमाचरम् ॥२२॥

हे नाथ ! मेरा नाम कनिष्ठ है और वस्तुतः मैं कनिष्ठ ही हूँ कि जो आपकी परीक्षा करनेकेलिये मैंने यह पाप किया ॥ २२ ॥

त्वन्माहात्म्यमविज्ञाय क्रूरकर्मा तमोनिधिः ।
अन्वष्ठां यदहं पापं तत्क्षमस्व महामुने ॥२३॥

हे मुनीश्वर ! मैंने आपके महात्म्यको जाने बिना जो पाप किया है उसे क्षमा करें ॥ २३ ॥

दासोऽहं ते महाराज पङ्कजाङ्घ्रियुगं तव ।
आश्रये स्वाश्रये दीनं करुणाकर मां कुरु ॥२४॥

हे महाराज ! मैं आपका दास हूँ । आपके चरणोंका आश्रय लेता हूँ । हे दयालो ! मुझ दीनको अपने आश्रयमें स्वीकार करें ॥ २४ ॥

ग्रस्तः स्वर्भानुना भानुर्बहिरेति पुनः पुनः ।
तव क्रोधानलग्रस्तः सदा तत्रात्रसीदति ॥२५॥

केतुसे ग्रसितसूर्य तो पुनः पुनः बाहर आता है परन्तु आपके क्रोधाग्नि-में पड़ा हुआ पुरुष वहाँ ही दुःखी हुआ करता है ॥ २५ ॥

विरोधं च समाराध्य समाराध्य सतां त्वया ।
आराधितं मया दुःखं केवलं सिद्धमानिना ॥२६॥

हे सज्जनोंके पूज्य ! आपके साथ विरोध करके, अपनेको सिद्ध मान-कर मैंने केवल दुःख ही सिद्ध किया है ॥ २६ ॥

त्रिशूलमिव शूलं मे पिचण्डं पीडयत्यथ ।
भ्राम्यन्निव भवः सर्वो भाति मे भास्करप्रभ ॥२७॥

यह शूल-पीड़ा मेरे पेटको त्रिशूलके समान पीड़ित कर रही है । समस्त संसार मुझे फिरता हुआ विदित होता है ॥ २७ ॥

प्राणाः कण्ठगता नूनं निर्यातुं वर्ष्मणो मम ।
त्वरन्त इति मन्येऽहं परित्यज्य यतीन्द्र माम् ॥२८॥

हे यतीन्द्र ! मैं समझता हूँ कि कण्ठगत मेरे प्राण अब मेरे इस शरीर को त्यागकर निकलनेकेलिये त्वरा कर रहे हैं ॥ २८ ॥

परिभूतेः फलं सद्यः प्राप्तवानस्मि तेऽनघ ।
मीलिताक्षं कृतं यत्तद्दुनोति हृदरिन्दम ॥२९॥

हे शत्रुसूदन ! आपके तिरस्कारका फल मैंने तत्कालमें ही पा लिया । आँख मोंचकर जो कुछ मैंने किया वह मेरे हृदयको दुःखित कर रहा है ॥ २९ ॥

फेनिलेनाननेनेति ब्रुवाणो वर्णयन्नथ ।
दयनीयां दशां स्वीयां छिन्नवृक्ष इवापतत् ॥३०॥

फेनसे भरेहुए मुखसे इस प्रकार बोलता हुआ तथा अपनी दयापात्र दशाको प्रकट करता हुआ कटे हुए वृक्षसमान गिर पड़ा ॥ ३० ॥

पतितं पतितं दृष्ट्वा शरण्यः शरणैषिणाम् ।
भूपृष्ठे तं यतिश्रेष्ठो दयार्द्रहृदयोऽभवत् ॥३१॥

शरण चाहनेवाले उस पतित कनिष्ठको पृथ्वीपर गिरा हुआ देखकर यतिराजका हृदय दयासे पिघल गया ॥ ३१ ॥

उत्थायोत्थाप्य तं तूर्णमालिलिङ्गोरसा रसात् ।
सतामेषोऽमलः पन्था दयन्ते ह्यसतामपि ॥३२॥

स्वामीजीने उठकर, उसे उठाकर प्रेमपूर्वक छातीसे लगा लिया; क्योंकि दुष्टोंपर भी दया करना, यह सत्पुरुषों का निर्मलमार्ग है ॥ ३२ ॥

उवाच परमप्रीतः प्रीतां वाचमिमां मुनिः ।
सतां व्यतिक्रमस्तात नाशायाशु शरीरिणाम् ॥३३॥

परमप्रसन्न होकर मुनिराज बोले कि हे तात ! सज्जनोंका अपमान प्राणियोंका शीघ्र नाश कर देता है ॥ ३३ ॥

स्वर्गापवर्गयोर्हन्ता गर्वः खर्वत्वकारणम् ।
तस्मात्स परित्याज्यः श्रेयः सततमिच्छता ॥३४॥

गर्व, स्वर्ग और अपवर्ग दोनोंका नाश करता है । वह लघुताका कारण है । अतः कल्याण चाहनेवालेको चाहिये कि उसका त्याग करदे ॥ ३४ ॥

श्रुत्वा श्रुतिमितं वाक्यं क्षणं मौनमुपाश्रितः ।
अश्रूदबिन्दुभिः पापं निजं सर्वमशूशुधत् ॥३५॥

वह कनिष्ठ वेदसम्मत इस वचनको सुनकर क्षणभर चुप रहा। तथा आँसुओंके जलसे अपने पापको धो डाला ॥ ३५ ॥

त्रिलोकीतिलकं योगी योगीन्द्रचरणाम्बुजम् ।
प्रणम्य स च साष्टाङ्गं जगादेदं कृताञ्जलिः ॥३६॥

वह कनिष्ठयोगी तीनों लोकोंके तिलकसमान योगिराजके चरणोंमें साष्टाङ्गप्रणाम करके हाथजोड़कर इस प्रकार बोला ॥ ३६ ॥

भानवीयविभाभातो मानवीयतनुं दधत् ।
स्वयम्भविष्णुस्त्वं विष्णुर्जिष्णुः सद्धर्मविद्विषाम् ॥३७॥

आप सूर्यके प्रकाशसमान प्रकाशवाले हैं और मनुष्यशरीर धारण किये हुए सद्धर्मविद्वेषियोंको जीतनेवाले आप साक्षात् विष्णु हैं ॥ ३७ ॥

अरुणस्त्वं मम व्याधिं तिग्मत्विड्विधुतारुणः ।
अधुनाधिमपि स्वामिन्समूलं छिन्धि सर्वद ॥३८॥

आपने मेरे व्याधिका तो नाश कर दिया; परन्तु हे स्वामिन् अब मूलसहित मेरे अगाध मानसिकदुःखका भी सर्वथा नाश कीजिये ॥ ३८ ॥

मुक्तियुक्तिर्वशे यस्य भुक्तिर्यस्य च किङ्करा ।
शाधि मामाधिपत्यं ते तवाद्य स्वीकरोम्यहम् ॥३९॥

मुक्तिकी युक्ति जिनके वशमें है, भोग जिनका दास है उन आपका मैं आज प्रभुत्व स्वीकार करता हूँ। मुझे शिक्षा दीजिये ॥ ३९ ॥

प्रायश्चित्तविधानेन पतितोद्धारकः प्रभुः ।
दीक्षां च वैष्णवीं तस्मै दत्त्वा सन्मार्गमादिशत् ॥४०॥

श्रीस्वामीजीने उसे प्रायश्चित्त कराकर वैष्णवी दीक्षा देकर सन्मार्गका उपदेश दिया ॥ ४० ॥

विद्वज्जननमस्यायां वाराणस्यां कदाचन ।
महासेनो महासेनः सर्वविद्याविशारदः ।४१॥
सर्वास्वाशासु विदुषः पराजित्याखिलानपि ।
प्रापाजय्यां सदा काशीं विजिगीषुर्महामदः ॥४२॥

एक समय विद्वानोंकी बड़ीभारी सेना लेकर सर्वविद्याओंमें निपुण महासेननामक एक ब्राह्मण, सम्पूर्णदिशाओंमें विद्वानोंका पराजय करता हुआ, विजयकी इच्छासे, काशीमें आया ॥ ४१ ॥ ॥ ४२ ॥

निखिलान्दीक्षयिष्यामि यथाशैवागमं ध्रुवम् ।
योऽवरोत्स्यति मां तेन शास्त्रार्थो मे भविष्यति ॥४३॥
इत्येवं घोषणां काश्यां निर्भयोऽजूघुषत्तदा ।
सर्वदीक्षणसामग्रीं समग्रां संचिकाय सः ॥४४॥

उसने काशी में यह घोषणा कर दी कि मैं शैवागमके अनुसार सबको दीक्षित-करूँगा । जो कोई मुझे रोकेगा उसके साथ मेरा शास्त्रार्थ होगा । तदनन्तर उसने सबकी दीक्षा की सर्वसामग्रीका संग्रह कर लिया ॥४३-४४॥

केनचिद्दण्डिना प्रोक्तं माभिमानं कृथा बुध !
निर्जनायामरण्यान्यामपि निर्भयता कुतः ॥४५॥

उसे किसी दण्डी स्वामीने कहा कि पण्डितजी आप अभिमान न करें । घोर जङ्गल चाहे निर्जन ही हो परन्तु उसमें निर्भयता कहाँसे आ सकती है ? ॥ ४५ ॥

विद्वच्छिरोमणिः श्रीमान् प्रतिवादिभयङ्करः ।
दर्पिणां दर्पदलनो रामानन्दो वितिष्ठते ॥४६॥

विद्वानोंमें शिरोमणि, प्रतिवादिभयङ्कर श्रीमद्रामानन्दस्वामीजी महाराज यहाँ विराजते हैं ॥ ४६ ॥

तन्नामश्रुतिमात्रेण पञ्चगङ्गं स आगतः ।
आत्मनीनं न कुर्वन्ति कर्म गर्वकशाहताः ॥४७॥

स्वामीजीका नाम सुनते ही, वह पञ्चगङ्गाघाटपर जहाँ स्वामीजी रहते थे, आया । सत्य है, अहङ्कारी लोग आत्मकल्याण करनेवाले कर्मको नहीं करते ॥ ४७ ॥

स प्रोवाच गतस्तत्र दौवारिकमिदं वचः ।
निजस्वामिनमह्वाय निवेदय मदागतिम् ॥४८॥

वहाँ जाकर पण्डितमहासेनने द्वारपालसे कहा कि तुम अपने स्वामी-जीसे मेरे आनेका समाचार कह दो ॥ ४८ ॥

भक्तदीपो नृपः पीपा तत्रासीत्समवस्थितः
कौतस्कुतः समायातः कश्च त्वमिति पृष्टवान् ॥४९॥

श्रीपीपाजी वहाँ ही बैठे थे । उन्होंने पूछा कि आप कौन हैं ? और कहाँ-कहाँ से फिरते आ रहे हैं ? ॥ ४९ ॥

त्वरयैव जगादासौ जयोत्कण्ठितमानसः ।
अधीती सर्वशास्त्रेषु दाक्षिणात्योऽस्मि सद्द्विजः ॥५०॥

विजयेच्छु उसने शीघ्रतासे उत्तर दिया कि मैं सर्वशास्त्रसम्पन्न दक्षिणी ब्राह्मण हूँ ॥ ५० ॥

सर्वा दिशो विजित्याद्य काश्यपि प्रापि या पुरी ।
सर्वशास्त्रविदां धाम काममावेद्यते जनैः ॥५१॥

सम्पूर्णदिशाओंके विद्वानोंको जीतकर काशीमें भी आया हूँ जिसे सब लोग सर्वशास्त्रके विद्वानोंका धाम कहते हैं ॥ ५१ ॥

युष्माकं श्रीगुरोर्नाम कर्णाकर्णि श्रुतं मया ।
मया तमपराजित्य न किमप्याचरिष्यते ॥५२॥

कर्णपराम्परासे मैंने आपके गुरुका नाम सुना है। उनको पराजित किये बिना आज मैं कुछ नहीं करूँगा ॥ ५२ ॥

पीपाऽपि प्रत्युवाचैवं किमवोचः पुनर्वद ।
एकमप्यक्षरं नासौ चक्षमे भाषितुं तदा ॥५३॥

पीपाजीने कहा कि आपने क्या कहा एक बार पुनः बोलिये । महासेनजीने बहुत प्रयत्न किया परन्तु एक अक्षरभी वह बोल न सके ॥५३॥

स समस्थित तत्रैवमाहोराद्वयमद्वयम् ।
वृत्तं वीक्ष्य जयेच्छा तन्मनसः स्वेच्छया व्यगात् ॥५४॥

वह वहाँ ही दो घड़ी बैठे रहे । ऐसा अद्भुतवृत्तान्त देखकर उनके मनमेंसे विजयकी इच्छा अपने आप ही निकल गयी ॥ ५४ ॥

आश्चर्यमिदमालोक्य गतगर्वो यदाऽभवत् ।
तदा प्राप पुनर्वाचमाप लज्जां विशेषतः ॥५५॥

इस आश्चर्यको देखकर जब उनका अहङ्कार नष्ट हुआ तब पुनः मुखमेंसे शब्द निकला और वह अधिक लज्जित हो गये ॥ ५५ ॥

यतीनां पतिमासाद्य मिलत्पाणिर्नमच्छिराः ।
अपराधक्षमां प्रार्थ्य सर्वथा शरणं गतः ॥५६॥

महासेन हाथ जोड़े हुए, मस्तक नमाते हुए, श्रीयतिराजके पास जाकर अपराधक्षमाकी प्रार्थना करके शरणागत हो गये ॥ ५६ ॥

यतिराजो महासेनमुपवेश्य स्वसन्निधौ ।
संस्कृत्य श्रौतसंस्कारैर्वक्तुमारभत स्फुटम् ॥५७॥

श्री स्वामीजी महासेन को पास बैठाकर श्रौत पञ्चसंस्कारों से संस्कृत करके उपदेश देने लगे ॥ ५७ ॥

दुस्तरः समयः प्राप्तो दुराचारो विजृम्भते ।
श्रौतधर्मसदाचारपद्धतिः प्राप्तपद्धतिः ॥५८॥

समय बड़ा दुस्तर आ गया है। दुराचार बढ़ रहा है। वैदिकधर्म-रूपसदाचारकी पद्धति पैरोंतले कुचली जा रही है ॥ ५८ ॥

हिन्दुधर्मसदाचाराः श्लथन्तेऽद्य शनैः शनैः ।
देशोऽयं यवनप्रायो जातस्तात बलादपि ॥५९॥

धीरे-धीरे हिन्दुधर्मके सदाचार भी शिथिल होते जा रहे हैं। हे प्रिय महासेन ! यह देश बलात्कारसे यवन जैसा ही हो गया है ॥ ५९ ॥

दुःकालेन समारब्धे महायज्ञेऽत्र भारते ।
होता च यवनो धर्मच्छागस्तत्र निहन्यते ॥६०॥

इस भारतमें दुष्टकालरूप यजमानने महायज्ञ का आरम्भ किया है। उसमें होता यवन है और धर्मरूप बकरा मारा जा रहा है ॥ ६० ॥

यवना धर्महीना धिक्स्वसाम्राज्यमतिष्ठिपन् ।
पारतन्त्र्याभिधे देश्या वराका नरकेऽपतन् ॥६१॥

धर्महीन यवनोंने अपना साम्राज्य स्थापन कर लिया है। धिक्कार है, इस देशके लोग परतन्त्रतारूप नरकमें पड़ गये ॥ ६१ ॥

हिन्दवः प्रायशो नित्यं योयुध्यन्ते परस्परम् ।
स्वैर्विरोधः परेषां हि हितं पुष्णाति सर्वदा ॥६२॥

हिन्दुलोग प्रायः परस्पर नित्ययुद्ध किया करते हैं। स्वजनोंके साथ विरोध होनेसे शत्रुओंका सदा हित होता ही है ॥ ६२ ॥

तेन याहि स्वदेशं त्वं पारस्परिकयोधनम् ।
निवर्तय महायत्नाद्देशध्वंसोऽन्यथा ध्रुवम् ॥६३॥

अतः हे महासेन ! तुम अपने देशमें जावो। महान् प्रयत्न करके आपसकी लड़ाईको बन्द करो। नहीं तो अवश्य ही देशका नाश हो जायगा ॥ ६३ ॥

योगिकण्ठीरवस्तस्मै यतिराजो विदांवरः ।
इत्यादिश्य गृहं गन्तुमादिदेश सुखेन तम् ॥६४॥

श्री यतिराजने महासेनको ऐसा आदेश करके घर जानेकी आज्ञा दी ॥ ६४ ॥

सोऽपि मूर्ध्नाऽग्रहीदाज्ञामाचार्यस्य शुभायतिम् ।
ययौ तस्य प्रणम्याशु साष्टाङ्गं पादपद्मयोः ॥६५॥

महासेनने भी आचार्यकी आज्ञाको मस्तकपर धारणकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करके शीघ्र प्रयाण किया ॥ ६५ ॥

अपारो नाम कोऽप्यासीत्पारावारः क्षमातले ।
सर्वतान्त्रिकसिद्धीनां ताराराधी बुधो द्विजः ॥६६॥

अपारनामक कोई विद्वान् ब्राह्मण था । वह तारादेवीका उपासक था; अत एव सम्पूर्णतान्त्रिकसिद्धियोंका सागर था ॥ ६६ ॥

उत्कलान्दाक्षिणात्यांश्च सर्वान् सिद्धान् परास्य सः ।
अङ्गस्थलं महच्चारु कामाक्षायां न्ययीयमत् ॥६७॥

उस अपारने उत्कल और दक्षिण देशके समस्त सिद्धोंको परास्त करके कामाक्षामें एक बहुतसुन्दर अङ्गस्थल नियत किया ॥ ६७ ॥

विद्या नाम च तस्यासीद्दुहिता सुहितावहा ।
शारदक्षणदाकान्तकान्ताननमनोहरा ॥६८॥

उस अपारके विद्यानामक परमसुन्दरी एक पुत्री थी ॥ ६८ ॥

बिम्बाफलप्रतिच्छायारदच्छदविभूषिता ।
सर्वसीमन्तिनीदर्पसर्पसीमन्तविभ्रमा ॥६९॥

बिम्बाफलसमान उसके ओष्ठ थे और सर्पसमान काले केश थे ॥६९॥

यतः कुतोऽपि सन्त्रस्तमृगशावकलोचना ।
लसत्सद्गुणशोभाढ्या परा श्रीरिव सुन्दरी ॥७०॥

जिस किसीकारणसे भीत मृगशावकसमान चञ्चल उसके नेत्र थे। दूसरी लक्ष्मीके समान वह सुन्दरी थी ॥ ७० ॥

तारुण्यारण्यसञ्चारियुववातायुमोहनम् ।
वंशीस्वराधरीकारक्षमं स्वरमुपेयुषी ॥७१॥

जवानीरूपजङ्गलमें फिरनेवाले युवपुरुषरूपमृगोंको मोहित करनेवाले तथा वंशीके स्वरको भी नीचा दिखलानेवाला उसका स्वर था ॥ ७१ ॥

कामं कामं परित्यज्य भूतलालोकनागता ।
साक्षाद्रतिरिवारेजे कामचारा हि देवता ॥७२॥

कामको भी छोड़कर पृथ्वीका अवलोकन करनेकेलिये आयी हुई रतिके समान वह शोभा देती थी। क्योंकि देवता लोग स्वेच्छाचारी होते हैं ॥ ७२ ॥

पदवाक्यप्रमाणज्ञरामानन्दजगद्गुरोः ।
अनवद्या सुविद्येव प्रमदा प्रमदावहा ॥७३॥

जिस प्रकारसे पदवाक्यप्रमाणज्ञ जगद्गुरु श्रीरामानन्दस्वामीजीकी निर्दोष विद्या आनन्ददेनेवाली थी उसी प्रकारसे वह तरुणी अपार-पुत्री भी आनन्द देनेवाली थी ॥ ७३ ॥

तपःसत्यधृतिक्षान्तिविद्याशमदमादिभिः ।
प्रकाशमाना सा काशीं द्रष्टुकामा समागता ॥७४॥

तप, सत्य, धैर्य, क्षमा, विद्या, शम और दम आदिसे प्रकाशमान-काशीको देखनेकी इच्छासे वह वहाँ आयी ॥ ७४ ॥

काश्यामितस्ततः सासीद्भ्रमन्ती द्विजकन्यका ।
हरन्ती सर्वलोकानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥७५॥

वह ब्राह्मणकन्या लोगोंके नेत्रों और मनको हरण करती हुई काशीमें इधर उधर फिर रही थी ॥ ७५ ॥

कदाचित्प्राविशद्देवी विदुषी विदुषामपि ।
समाजं शास्त्रसाम्राज्यं शास्त्री सा ह्यकुतोभया ॥७६॥

किसी दिन शास्त्रसाम्राज्यका शासन करनेवाली उस विदुषी विद्या-देवीने विद्वानोंके समाजमें निर्भय प्रवेश किया ॥ ७६ ॥

तत्र सिंहासनासीनो भानुमानिव भानुमान् ।
सर्वभूमण्डलस्थायिविद्वद्वृन्दाभिवेष्टितः ॥७७॥

वहाँ सिंहासन पर बैठे हुए, सूर्यसमान प्रभावान्, समस्त पृथ्वीके विद्वानोंसे परिवेष्टित ॥ ७७ ॥

रोहितश्रीसमासन्न ऊर्ध्वपुण्ड्रलसच्छिराः ।
सूत्रत्रयीं दधच्छुभ्रां हृदयेन त्रयीमिव ॥७८॥

लालश्रीयुक्त उर्ध्वपुण्ड्रसे जिनका मस्तक सुशोभित हो रहा था, जो हृदयमें वेदत्रयीके समान सूत्रत्रयी—यज्ञोपवीतको धारण किये हुए थे ॥ ७८ ॥

काषायाम्बर आचार्य्यः सर्वशास्त्रविदांवरः ।
त्रिगुणातीततां वक्तुं त्रिदण्डं बिभ्रदुत्तमम् ॥७९॥

जो आचार्य्य थे । काषायवस्त्राधारण किये हुए थे । सर्वशास्त्रविशारद थे । त्रिगुणतीतताको प्रकट करनेके लिये जो सुन्दर त्रिदण्ड धारण किये हुए थे ॥ ७९ ॥

तत्तेजस्तत्तपः शान्तां मूर्तिं तामावहन्नसौ ।
रामानन्दयतीन्द्रोऽस्या नयनातिथितां गतः ॥८०॥

अपूर्व तेज, लोकोत्तरतप और अद्वितीयशान्तमूर्ति धारण किये हुए श्रीरामानन्दस्वामीजीमहाराजपर उसकी दृष्टि पड़ी ॥ ८० ॥

यतीक्षणकृतार्था सा सुभगा नवयौवना ।
तदन्तेवासिनं चैकमीक्षाञ्चक्रे सुयौवनम् ॥८१॥

उस सुन्दरभाग्यवाली, नवयौवना विद्याने यतिराजके दर्शन से कृतार्थ होकर उनके एक सुन्दर युवावस्थासम्पन्न विद्यार्थीको देखा ॥ ८१ ॥

तल्लावण्यमहाम्भोधौ सुतनुर्निममज्ज सा ।
रेजिरे वदनाम्भोजे तस्याः प्रस्वेदबिन्दवः ॥८२॥

उस शिष्यके सौन्दर्यरूपमहासागरमें वह सुन्दरी डूब गयी। उसके मुखकमलपर स्वेदके बिन्दु झलकने लग गये ॥ ८२ ॥

वेपथुः सर्वगात्रेषु रोमहर्षसमुद्भवः ।
अनङ्गेषुप्रविद्धाङ्गी दशां कामपि सान्वभूत् ॥८३॥

सर्वाङ्गमें कम्प पैदा हो गया। रोमाञ्च हो आया। कामके बाणोंसे बींधी गयी वह विद्या किसी अपूर्वदशाका अनुभव करने लगी ॥ ८३ ॥

तत्र प्राप्य रहः सा च रहस्यं स्वमनोगतम् ।
सोल्लासं कथयामास शिष्याय ब्रह्मचारिणे ॥८४॥

एकान्त पाकर उस विद्याने अपने हृदयके रहस्यको उस ब्रह्मचारीके आगे निवेदन किया ॥ ८४ ॥

मारच्छवे कुमारास्मन्मनोरथसुरद्रुम !
अषडक्षीणमेकं ते वस्तुतत्त्वं निवेदये ॥८५॥

वह बोली, हे कामसमानसुन्दर तथा मेरे मनोरथके कल्पवृक्ष कुमार ! मैं नितान्तगोप्य एक वस्तु आपसे निवेदन करती हूँ ॥ ८५ ॥

क्षीरस्यति यथा बालो मयश्च लवणस्यति ।
त्वदस्यामि तथा चाहं दृष्ट्वा त्वां वीर्यवत्तमम् ॥८६॥

जिस प्रकारसे बालक दूधकी इच्छा करता है, ऊँट लवणकी इच्छा करता है; वैसे ही आपको परमवीर्यवान् देखकर मैं आपकी इच्छा करती हूँ ॥ ८६ ॥

शृण्वतैतद्वचस्तूर्णं भर्त्सिता सोर्ध्वरेतसा ।
मन्तुतन्तुनिबद्धात्मा स्वसिद्धिमनुसन्दधे ॥८७॥

उस ब्रह्मचारीने यह सुनते ही विद्याको झिड़क दिया । उसने क्रुद्ध होकर अपनी सिद्धिका अनुसन्धान किया ॥ ८७ ॥

तस्या मन्त्रप्रयोगेण तत्क्षणं गतचेतनः ।
पपात भूतले वर्णी शोणितं चोद्ववाम सः ॥८८॥

उसके मन्त्रप्रयोगसे वह ब्रह्मचारी उसी समय मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और रक्त वमन करने लगा ॥ ८८ ॥

यतिराप्तसमाचारो मायां मायाविनीकृताम् ।
संजहार क्षणेनाभूत्स पुनर्लब्धसंज्ञकः ॥८९॥

यह समाचार पाकर श्रीस्वामीजीने मायाविनी विद्याकी मायाको दूर कर दिया । वह ब्रह्मचारी क्षणभरमें ही पुनः सावधान हो गया ॥ ८९ ॥

तस्याः सिद्धिबलं चापि शापेन हरदीश्वरः ।
स्वगुरुं गुरु दुःखं तद्गत्वा सर्वमुवाच सा ॥९०॥

मुनीश्वरने उस विद्याके सिद्धिबलको भी शापसे नष्ट कर दिया । उसने अपने पिताके पास जाकर इस बड़े दुःखको निवेदन किया ॥ ९० ॥

वृत्तं तद्दारुणं श्रुत्वा सोऽपारः कन्यकामुखात् ।
चुक्रोध मुनये सार्धं सिद्धैरागाच्च तां पुरीम् ॥९१॥

अपनी कन्यासे इस दारुणसमाचारको सुनकर वह अपारसिद्ध श्री स्वामीजीके ऊपर बहुत क्रुद्ध हुआ और अन्यसिद्धोंको साथ लेकर काशीमें आया ॥ ९१ ॥

मुनिं दूषयितुं मूर्खो बहुधा प्रायतिष्ट सः ।
सर्वज्ञः स परं योगिराजो मायामुदच्छिनत् ॥९२॥

उसमूर्खने स्वामीजीको दूषित करनेकेलिये बहुत प्रयत्न किये; परन्तु सर्वज्ञयोगिराजने उसकी मायाको उच्छिन्न कर दिया ॥ ९२ ॥

या न यद्दासदास्येऽपि योग्यतां लभते क्वचित् ।
सा तस्य यतिराजस्य माया भायात्कुतः पुरः ॥९३॥

जो माया जिन स्वामीके दासकी भी दासताके योग्य नहीं है वह भला उन श्रीस्वामीजीके आगे कैसे ठहर सके ? ॥ ९३ ॥

धर्मवीरो कवीरोऽपि गुहातोऽगादुवाच च ।
पापात्मायं महाराजाचिरेण वधमर्हति ॥९४॥

गुहामेंसे कबीरदासजी भी गये और बोले कि श्रीमहाराजजी ! इस पापात्माका शीघ्र वध करना चाहिये ॥ ९४ ॥

दयार्द्रहृदयः स्वामिरामानन्दो यतीश्वरः ।
उद्यतं तं तथा कर्तुं वारयामास यत्नतः ॥९५॥

कबीरजी उस अपारको मन्त्रबलसे मारनेको उद्यत हो गये थे; परन्तु दयालु स्वामीजीने ऐसा करनेसे यत्नपूर्वक रोक दिया ॥ ९५ ॥

क्रमशः संपरीक्ष्यासौ सर्वाः सिद्धीस्त्रपामयात् ।
हिमपातेन शुष्यन्ति सरोजानि सरांसि नो ॥९६॥

वह अपार क्रमसे सब सिद्धियोंकी परीक्षा करके लज्जाको प्राप्त हुआ । सत्य है हिमके पड़नेसे केवल कमल सूखते हैं, सरोवर नहीं ॥ ९६ ॥

अनार्यमिदमालोच्य तारा चारादुपस्थिता ।
दिशः पुनाना सोवाद स्वमुखोद्गन्धिवायुना ॥९७॥

इस अनुचितकर्मको देखकर वहाँ पासमें ही तारादेवी प्रकट हुई । अपने मुखके सुगन्धितवायुसे दिशाओंको पवित्र करती हुई बोलीं ॥ ९७ ॥

कथं पित्ससि रे मूढ स्वात्मानं किं हि रित्ससि ।
जगद्गुरोः पुरस्तात्किं जाग्रहीषि दुराग्रहम् ॥९८॥

अरे मूर्ख ! तू क्यों पतित होना चाहता है ? क्यों नष्ट होना चाहता है ? जगद्गुरुके सामने क्यों दुराग्रह करता है ? ॥ ९८ ॥

जनुषान्धो न जानाति रूपं रूपवतो यथा ।
विजानासि तथा नाऽस्य प्रभोर्माहात्म्यमैश्वरम् ॥९९॥

जैसे जन्मका अन्धा किसी वस्तुके रूपको नहीं जानता वैसे ही तुम श्रीस्वामीजीके ऐश्वरमहात्म्यको नहीं जानते हो ॥ ९९ ॥

इत्युक्त्वा सुन्दरी ताराऽस्पृशद्धस्तेन तद्दृशौ ।
आजिज्ञपन्मुनिं द्रष्टुं धुताज्ञानावृतिं द्विजम् ॥१००॥

ऐसा कहकर तारासुन्दरीने अपने हाथसे अपारकी दोनों आँखोंका स्पर्श किया। अज्ञानरूप आवरणसे मुक्त हुए अपारको आज्ञा दी कि अब तुम मुनीश्वरका दर्शन करो ॥ १०० ॥

चतुर्मुखादयः सर्वे सर्वपूज्या महर्षयः ।
कुटीरं परितः प्रेम्णा भ्रमन्ति करमालिकाः ॥१०१॥

उसने देखा कि सर्वपूज्यब्रह्मादिमहर्षि हाथमें माला लेकर श्रीस्वामीजीकी कुटीके चारोंओर प्रेमसे फिर रहे हैं ॥ १०१ ॥

आञ्जनेयो जयी तिष्ठन् समया तं मुनीश्वरम् ।
गदापाणिश्च विघ्नानां राशिं हरति दूरतः ॥१०२॥

विजयी श्रीहनुमान्जी भी हाथमें गदा लेकर मुनिराजके समीपमें खड़े रहकर दूरसे ही विघ्नोंका नाश कर रहे हैं ॥ १०२ ॥

स्वयं श्रीमाननन्तात्मा सर्वशेषी धनुर्धरः ।
श्रियः पतिरवातारीत्पृथिव्यां धर्मरक्षया ॥१०३॥

उसने यह भी देखा कि अनन्तात्मा, सर्वशेषी, धनुर्धारी श्रीरामजी महाराज स्वयं पृथ्वीपर धर्मकी रक्षा करनेके निमित्त अवतार लेकर पधारे हैं ॥ १०३ ॥

तेन सिद्धाधिनाथेन भिन्नाहङ्कारपर्वणा ।
इदं सर्वमवालोकि महाचकितचक्षुषा ॥१०४॥

अहङ्काररहित उस अपारने आश्चर्यकी दृष्टिसे यह सब देखा ॥१०४॥

देवीं प्रार्थिततेदानीं मातर्जाड्यं क्षमस्व मे ।
करणीयं तथा शाधि यथा स्यां धूतकिल्बिषः ॥१०५॥

देवीसे प्रार्थना करने लगा कि हे मातः! मेरी जडताको क्षमा करो। तथा मुझे ऐसी आज्ञा करो कि जिससे मेरा पाप दूर हो ॥ १०५ ॥

प्रत्युवाच तदा तारा यथाजात यदीहसे ।
कल्याणमस्य कल्याणमूर्तेश्चरणमाश्रय ॥१०६॥

तारादेवीने उत्तर दिया कि हे मूढ! यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो कल्याणमूर्ति इन स्वामीजीके चरणका आश्रय ले ॥ १०६ ॥

पन्थानं नापरं मन्ये त्वदुद्धारस्य दुर्मते!
तेन मोक्षमतिर्भूत्वा तं मोक्षपतिमाप्नुहि ॥१०७॥

हे दुर्मते! इससे अन्यमार्ग मैं तेरे उद्धारकेलिये नहीं देखती हूँ। अतः मोक्षबुद्धि होकर उन्हीं मोक्षपतिकी शरणमें जा ॥ १०७ ॥

तिरोबभूव सा तारा व्याहृत्य हितकृद्वचः ।
अपारः कृष्णकर्मासौ तत्र मूढ इव स्थितः ॥१०८॥

वह तारा हितके वचन कहकर अन्तर्हित हो गयी। दुष्टकर्मवाला अपार वहाँ ही मूढकी भाँति स्थित रहा ॥ १०८ ॥

पश्चात्पश्चात्तपँश्चासावपध्वस्तश्च तारया ।
प्राप्तपुण्यसमाजं तं यतिराजमुपागमत् ॥१०९॥

तारादेवीसे धिक्कृत होकर पीछेसे पश्चात्ताप करता हुआ अपार, पुण्यकर्मवाले श्रीस्वामीजीके पास आया ॥ १०९ ॥

तत्राश्रममुनेः पादावुपगृह्य च दुर्विधः ।
त्राहि त्राहीति स व्यक्तं रुरोद चिरमग्रजः ॥११०॥

श्रीस्वामीजीके चरण पकड़कर 'त्राहि-त्राहि' ऐसा बोलता हुआ दीन होकर अपार बहुत देर तक फूट-फूट कर रोता रहा ॥ ११० ॥

प्रपन्नपारिजातोऽसौ तदश्रूणि परामृशन् ॥
चक्षमे तस्य दोषान् हि महतामाशुतोषिता ॥१११॥

श्रीस्वामीजीने, उसके आँसुओंको पोंछते हुए, उसके दोषको क्षमाकर दिया; क्योंकि महापुरुष शीघ्र प्रसन्न होनेवाले होते हैं ॥ १११ ॥

न्यस्ताहंकृतये तस्मै यतिराट्छरणं ददौ ।
भगवत्प्राप्त्युपायो हि सर्वसाधनहीनता ॥११२॥

यतिराजने अहङ्काररहित अपारको शरणप्रदान किया। क्योंकि सर्वप्रकारके साधनोंका हीनता ही भगवत्प्राप्तिका उपाय है ॥ ११२ ॥

मन्त्रराजमवाप्यासावाचार्य्यचरणान्तिके ।
पद्मनाभाभिधस्तत्र तस्थौ भक्तिरसं पिबन् ॥११३॥

श्रीस्वामीजीमहाराजसे श्रीराममन्त्रको ग्रहण करके पद्मनाभनामवाला होकर, भक्तिरसका पान करता हुआ वह अपार उन्हींके समीपमें रहने लगा ॥ ११३ ॥

श्रीपतिरतिवैमुख्यं प्राप्यापन्विषमदशां,
संसृतिभुजगीक्रोधोत्फूत्कारोपहितभयाः ।
ये यतिपतिपादाब्जं सश्रद्धं समुपगताः,
सच्छ्रुतिपथमाश्रित्य प्राप्तास्ते परमपदम् ॥११४॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य–विरचिते
श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये पञ्चदशः सर्गः ।

जो श्रीरामजीसे विमुख होकर विषम दशाको प्राप्त थे, जो संसार-रूपसर्पके फूत्कारसे भययुक्त थे और जो श्रद्धासे श्रीस्वामीजी की शरणमें आ गये उन्होंने सुन्दरवेदमार्गको पाकर परमपदको प्राप्त कर लिया ॥११४॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्यविरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां पञ्चदशः सर्गः ।

षोडशः सर्गः

वेदादिशास्त्राण्यखिलानि सम्यङ्-
मुक्तिश्रियो रूपविभासकानि ।
अध्यापयन्नास्त सुखेन काश्या-
माचार्यवर्यो निजशिष्यवर्गम् ॥ १ ॥

श्रीस्वामीजीमहाराज अपने शिष्योंको मोक्षप्रद वेदवेदान्तादिशास्त्रोंको अच्छे प्रकार से अध्ययन कराते हुए सुखपूर्वक काशीमें निवास करते थे ॥ १ ॥

दिने च कस्मिन्नपि पूज्यपादः
श्रीब्रह्मसूत्रे गुरुभाष्ययुक्ते ।
'उत्क्रान्तिगतये' तिवचो विवृण्व-
न्वैन्यासिकं तत्र बभौ यतीशः ॥ २ ॥

किसी दिन श्रीस्वामीजी स्वभाष्ययुक्तब्रह्मसूत्रके "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥" (ब्र० सू० २।३।२०) इस सूत्रका विवरण कर रहे थे ॥ २ ॥

काले च तस्मिन्वपुषा स्थविष्ठो
देशानटन्कोपि बुधः समेत्य ।
उपाविशत्तत्र महाभिमानो
यतेः प्रणम्याङ्घ्रिनवारविन्दम् ॥ ३ ॥

उसी समय एक बृहत्काय विद्वान् देशाटन करते हुए वहाँ आये। श्रीस्वामीजीके चरणोंको प्रणाम करते हुए भूमिपर बैठ गये ॥ ३ ॥

भूयाद्भवत्स्वागतमेव तात
किमीहमानोऽत्र कुतः समागाः ।
किं नाम कश्चाभिजनस्तवेति
मुनिः स पप्रच्छ शमप्रधानः ॥ ४ ॥

श्रीस्वामीजीने 'आपका स्वागत हो' ऐसा कहकर पूछा कि आप कहाँ से आये हैं ? क्या चाहते हैं ? क्या नाम है ? आपका अभिजन कौन सा है ॥ ४ ॥

व्याहारि तेनापि ममास्ति मद्र-
पुरं निवासोऽभिजनः स एव ।
आये प्रयागाद्द्विजसत्यमूर्ति-
र्नाम्नाहमिच्छन्भवतैव वादम् ॥ ५ ॥

उन्होंने कहा, मैं मद्रास रहता हूँ। मेरा अभिजन भी वही है। आपसे ही शास्त्रार्थ करनेकी इच्छासे मैं प्रयागसे आ रहा हूँ। सत्यमूर्ति मेरा नाम है ॥ ५ ॥

आकर्ण्य तद्वाचमथो विहस्य
यतीश्वरः प्रत्यवदद्बुधं तम् ।

क्षणं प्रतीक्षस्व समाप्य पाठं

भवन्मनोषामभिपूरयामि ॥ ६ ॥

उनके वचनको सुनकर, मुसुकुराकर श्रीस्वामीजीने उत्तर दिया कि मैं इस पाठको समाप्त करके आपकी इच्छाको पूर्ण करता हूँ ॥ ६ ॥

ततः परं संयमिसार्वभौम-

स्तदेव सूत्रं निजशिष्यजातम् ।

तत्सूत्रसङ्गत्यभिलापपूर्वं

प्रचक्रमेऽध्यापयितुं पुनः सः ॥ ७ ॥

उसके पश्चात् श्रीस्वामीजीने उसी प्रस्तुतसूत्रको सङ्गतिवर्णनपुरस्सर पढ़ाना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

शङ्कासमाधानपुरस्सरं तान्

महर्षिचूडामणिरश्रमेण ।

अध्याप्य शिष्यान्निजगाद तत्र

स्थितं बुधं वादमपेक्षमाणम् ॥ ८ ॥

श्रीस्वामीजी बिना परिश्रम शङ्कासमाधानपूर्वक अपने शिष्योंको पढ़ाकर शास्त्रार्थकी इच्छासे बैठे हुए सत्यमूर्तिसे बोले ॥ ८ ॥

निर्वृत्तकार्योस्मि मनीषितं ते

यथा फलेत्साधु तथा विदध्याः ।

आस्थीयतां सज्जन पूर्वपक्षो

यस्मिन्मनस्ते रमतेऽत्र शास्त्रे ॥ ९ ॥

हे सज्जन ! मेरा कार्य पूरा हो गया । आपकी इच्छा जैसे पूर्ण हो वैसा करिये । जिस शास्त्रमें आपकी इच्छा हो पूर्वपक्ष कीजिये ॥ ९ ॥

यत्पाठितं स्वामिवरेण जीवो
ज्ञातृत्वरूपः सुतरामितोदम् ।
पूर्वं तु तत्प्रत्यवतिष्ठ ईशे-
त्युवाच तं शास्त्रधरस्तदानीम् ॥१०॥

तब सत्यमूर्तिने कहा, बहुत अच्छा। आपने जो अभी यह पढ़ाया है कि "जीव ज्ञातृत्वस्वरूपवाला है" मैं इसीका खण्डन करता हूँ ॥ १० ॥

स्वाभाविकं चेन्मनुषे कदाचि-
ज्ज्ञातृत्वमस्यात्मन ईहितस्य ।
प्रसज्यते सर्वगतस्य तस्य
दोषश्च सर्वत्र सदोपलब्धिः ॥११॥

यदि आप अपने इष्ट आत्माका स्वाभाविकज्ञातृत्व स्वीकार करेंगे तो सर्वव्यापी आत्माको सर्वत्र और सर्वदा उपलब्धरूप दोष प्रसक्त होगा ॥ ११ ॥

स्यादेष दोषो यदि सर्वगः स्या-
दात्मा परं नास्ति यतोऽणुरेषः ।
उत्क्रान्तिगत्यागतिदर्शनेन
न स्यान्ममत्वं विदुषां विभुत्वे ॥१२॥

श्रीस्वामीजी बोले कि यह सर्वत्र ज्ञातृत्वोपलब्धि और सर्वदा ज्ञातृत्वोपलब्धिरूप दोष तब होता यदि आत्मा विभु होता। परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (ब्र० २।३।२०) इस सूत्रमें व्यासदेवने जीवात्मविभुवादका खण्डन किया है। अतः विद्वानोंकी ममता विभुवादमें नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

शरीरसंयोगविभेदरूप-
त्वेनोत्क्रमो यद्यपि संभवः स्यात्।
यथाकथंचित्स्थितिशीलकस्य
तथापि ते द्वे न च सम्भवेताम् ॥१३॥

तथा यदि विभु आत्माका शरीरके वियोगरूप उत्क्रान्तिका किसी प्रकार सम्भव भी हो तो गति और आगति ये दोनों नितान्त असम्भव ही हैं। अत एव आत्मा विभु नहीं किन्तु अणु है ॥ १३ ॥

अथो स वा एष महानितीदं
श्रुतिर्महत्त्वं स्वतो ब्रवीति।
श्रुतेर्विरुद्धेन वचःशतेन
न साधनीयं चिदणुत्वमेव ॥१४॥

सत्यमूर्ति बोले कि 'स वा एष महानज आत्मा' (बृ० ६।४।२५) यह श्रुति आत्माको कण्ठसे विभु कह रही है। अतः आप श्रुतिविरुद्ध सैकड़ों वचनोंसे भी आत्माका अणुत्व नहीं स्थापित कर सकते ॥ १४ ॥

प्रज्ञस्य जीवादितरस्य तत्रा-
धिकारतस्ते न वचोऽस्ति सम्यक्।
उपक्रमे प्रस्तुत एव जीव-
स्तथापि मध्ये प्रतिपादितोऽन्यः ॥१५॥

श्रीस्वामीजी बोले कि आपने जो श्रुति कही है उसमें जीवात्मासे भिन्न प्रज्ञात्माका निरूपण है। यद्यपि 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ६।३।७) इस श्रुतिमें जीवका प्रस्ताव किया गया है तथापि 'यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा' (बृ० ६।४।१३) इस श्रुतिसे मध्यमें पर आत्माका निरूपण होनेसे परमात्मसम्बन्धिनी श्रुति है, जीवसम्बन्धिनी नहीं ॥१५॥

एषोऽणुरात्मेतिवचोमुखेन
तस्याणुताऽसाधि च मुण्डकेऽपि ।
आराग्रमात्रो ह्यवरोप्यनेन
चोन्मानतोप्याणवमेव सिद्ध्येत्॥१६॥

तथा 'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० ३।१।९) इस श्रुतिमें भी आत्माको स्पष्ट अणु कहा गया है। तथा 'आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः' (श्वे० ५।९) इस श्रुतिमें उन्मानसे भी जीवका अणुत्व ही प्रतिपादन किया गया है॥ १६॥

वाच्यं न चेत्थं सकले शरीरे
चितोऽणुतायामुपलभ्यते नो।
संवेदना तेन विहाय तत्त्वं
विभुत्वमङ्गीक्रियतां त्वयेति ॥१७॥

आत्माको अणु माननेसे सम्पूर्ण शरीरमें वेदनाज्ञानकी उपलब्धि नहीं होगी। अतः अणुत्वपक्षको छोड़कर विभुवाद स्वीकार करना चाहिये ऐसा भी आप नहीं कह सकते; क्योंकि—॥ १७॥

यतोऽविरोधो हरिचन्दनस्य
देहैकदेशेऽपि लसन्सुबिन्दुः।
यथाखिलाङ्गेषु परप्रमोद-
मुत्पादयत्यस्त्यनुभूतिरेषा ॥१८॥

कोई विरोध नहीं है। जैसे हरिचन्दनबिन्दु शरीरके एक देशमें स्थित होकर भी सम्पूर्णशरीरमें आनन्दको उत्पन्न करता है यह सार्वजनीन अनुभव है॥ १८॥

तथैव जीवोपि विराजमानो
देहैकदेशेऽणुरयं समस्ताम् ।
लब्धावकाशां स्वगुणेन देहे
संवेदनां वेत्ति यथायथेन ॥१९॥

इसी प्रकार वह यह अणुजीव भी शरीरके एक देशमें रहकर भी स्वधर्मभूतज्ञानरूपगुणसे यथायथ वेदनाको जान लेता है ॥ १९ ॥

उच्येत चेद्देशविशेष एव
देहे स्थितत्वाद्धरिचन्दनस्य ।
प्रतीयते सा न तथायमात्मा
ज्ञायेत नो तेन च वेदना सा ॥२०॥

यदि आप यह कहें कि हरिचन्दन तो शरीरके किसी एक नियत देशमें रहता है, अतएव उसकी वेदना प्रतीत होती है, परन्तु आत्माका तो शरीरमें कोई नियत देश नहीं है; अतः उससे वेदनाकी प्रतीत नहीं हो सकती ॥ २० ॥

न तत्समीचीनमिदं वचस्ते
हृद्यन्तरित्यादिवचोबलेन ।
चितस्तथात्वेनुपपत्तिरत्र
न विद्यते कापि मनोऽन्यथाकृत् ॥२१॥

तो आपका यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा भी शरीरके नियत एक देशमें अर्थात् हृदयरूप देशमें रहता है। जैसा कि 'हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनाम्' (प्रश्न० ३।६) इस श्रुतिमें निरूपण किया गया है। अतः श्रुत्यालोचन करनेके अनन्तर आपका दिया हुआ दोष नहीं आता ॥ २१ ॥

यथा स्थितो भास्कर एकदेशे
प्रभाश्च तस्याश्नुवते दिगन्तान् ।
ज्ञानेन जीवः स्वगुणेन सर्वं
व्याप्नोति देहं सततं तथैव ॥२२॥

जिस प्रकारसे भास्कर आकाशरूप एक देशमें स्थित है तथापि उसकी प्रभा समस्तदिशाओंमें व्याप्त हो जाती है उसी प्रकारसे अणु आत्मा भी अपने ज्ञानरूपगुणसे समस्तदेहमें व्याप्त होता है ॥ २२ ॥

कथं गुणः स्वाश्रयतो विभिन्न-
प्रदेशमाश्रित्य समुत्सहेत ।
स्थातुं विशंकेति च कस्यचिच्चे-
च्छृणोतु मत्तो मुदितः समाधिम् ॥२३॥

कदाचित् किसीको यह शङ्का हो कि गुण और गुणीका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण गुण अपने आश्रय गुणीको त्याग करके तद्रहित देशमें कैसे रह सकता है ? तो उसका भी समाधान सुनें ॥ २३ ॥

द्रव्यं प्रभेतीह सुखं समर्थ्य
कृतार्थतां यासि यथा मनीषिन् ।
ज्ञानं तथैवास्ति मते ममापि
द्रव्यं ततो मौनमुपास्य तिष्ठ ॥२४॥

जिस प्रकारसे आप अपने सिद्धान्तमें प्रभाको द्रव्य स्वीकार करके अपनेको कृतार्थ मानते हैं उसी प्रकारसे हमारे मतमें भी ज्ञानको द्रव्यत्व है । अतः चुप होकर बैठिये ॥ २४ ॥

तद्द्रव्यतां प्रत्यथ शङ्कसे चे-
त्तच्छ्रूयतां राजपथप्रवृत्तिः ।

नाद्रव्यमेवास्ति गुणो मदीये
तन्त्रे ततः क्वापि न पर्यवस्था ॥२५॥

कदाचित् आप यह शङ्का करें कि ज्ञान तो गुण है उसे द्रव्य कैसे माना जा सकता है? तो इसका उत्तर सुनिये। वैशेषिक आदिके समान अद्रव्य ही गुण होता है ऐसा आग्रह हमको नहीं है। 'यो यदाश्रितस्वभावः स तस्य गुणः'। अर्थात् जो जिसके आश्रित रहनेका स्वभाववाला है वह उसका गुण है ऐसा हम गुणका लक्षण मानते हैं॥ २५॥

द्रव्यात्मकाः केपि गुणा भवन्ति
भवन्ति ते शुद्धगुणाश्च केपि।
ज्ञानादयः सत्त्वरजस्तमांसी-
त्यनुक्रमेणात्र निदर्शनानि ॥२६॥

हमारे उपर्युक्तलक्षणलक्षितगुणके दो भेद हैं। कोई द्रव्यात्मकगुण हैं और कोई केवल गुण हैं। गुणैकरूपमात्र होनेसे सत्त्वादिमें गुणशब्द प्रधानरूपसे वर्तता है और ज्ञानादिमें गौणरूपसे रहता है॥ २६॥

यच्चाजडं तद्धचजडत्वहेतो-
र्द्रव्यं यथात्मेति वयं वदामः।
ज्ञानं तथा चास्ति ततोस्य तत्त्वं
निहन्ति तर्को न च कर्कशोऽपि ॥२७॥

'अजडं द्रव्यम्' अजडत्वात्, आत्मवत्, अर्थात् अजड होनारूप हेतुसे अजड द्रव्य कहा जाता है। जैसे आत्मा। आत्मा अजड है अतएव द्रव्य है। इसी प्रकार ज्ञान भी अजड होनेके कारण द्रव्य है इसको कर्कश तर्क भी निवारण नहीं कर सकता॥ २७॥

नन्वस्ति चेज्ज्ञानमिदं मतं ते
द्रव्यं तदा त्वात्मगुणत्वमस्य ।
सिध्येत्कथं त्वन्मत इत्यशेषं
शङ्काग्रहं क्रूरतरं प्रहण्मि ॥२८॥

यदि यह शङ्का हो कि आपको ज्ञान द्रव्यत्वेन सम्मत है तो वह आत्माका गुण आपके मतमें कैसे हो सकेगा ? तो इस शङ्काका भी दुर्निवार्य उत्तर करता हूँ ॥ २८ ॥

प्रत्यक्तया रूपितरूपकाया
विशेषकत्वेन गुणश्चितोऽस्ति ।
आत्मानमाश्रित्य सदैव तिष्ठ-
त्यतोऽपि तस्यास्तिगुणत्वमस्य ॥२९॥

प्रत्यक्तया निरूपितस्वरूपवाले आत्माका विशेष होनेके कारण ज्ञान आत्माका गुण कहा जाता है । तथा सर्वदा आत्माका आश्रयण करके ही ज्ञान रहता है; अत एव भी वह आत्माका गुण कहा जाता है ॥२९॥

देशान्तरेषून्मिषतीह यद्यद्
भोगाय जीवस्य हि वस्तु तत्र ।
अपेक्षितं हेतुतयाप्यदृष्टं
न तद्विनोत्पद्यत एव किञ्चित् ॥३०॥

सत्यमूर्ति इस प्रकारसे निरुत्तर होकर अब स्पष्टरूपसे नैयायिकका मत लेकर जीवाणुवाद खण्डन करनेकेलिये ६ श्लोकोंसे पुनः पूर्वपक्ष करने लगे ।

जीवोंके भोगकेलिये देशान्तरमें जो वस्तुएँ पैदा हुई हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र कारणरूपसे अदृष्ट अपेक्षित है । क्योंकि उसके विना कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

शक्नोति न स्थातुमदृष्टमद्धा
परःशतैर्यत्नगणैरपीह ।
विनाश्रयं क्वापि ततो ह्यदृष्ट-
वदात्मसंयोगमुपेहि हेतुम् ॥३१॥

और वह अदृष्ट सहस्रों यत्न करनेपर भी आश्रयके बिना नहीं रह सकता । अतः अदृष्टवाले आत्माके संयोगको कारण मानना चाहिये ॥ ३१ ॥

न स्याद्यदात्मा विभुरत्र कस्मा-
द्देशान्तरे तस्य गतिः सुसाध्या ।
अणुत्वमस्मादुपपत्तिशून्यं
विहाय मन्तव्यमहो विभुत्वम् ॥३२॥

यदि आत्मा विभु न हो तो सर्वदेशमें उसकी गति = प्राप्ति कैसे हो सकती है ! अतः अणुत्वके उपपत्तिशून्य होनेके कारण, इस पक्षको त्यागकर विभुत्वपक्षका ही स्वीकार करना चाहिये ॥ ३२ ॥

ज्ञानादिकं चापि चितोऽणुताया-
मतीन्द्रियं स्यान्नियमाग्रहेण ।
प्रत्यक्षयोग्यत्वविपादनेना-
हमित्ययं प्रत्यय आशु नश्येत् ॥३३॥

यदि आत्माको आप अणु मानेंगे तो उसके जो ज्ञानादि गुण हैं, सब अतीन्द्रिय हो जावेंगे । क्योंकि ऐसा नियम है कि अणुके गुण अतीन्द्रिय होते हैं । किंच अणुका तो प्रत्यक्ष भी नहीं होता है तो योग्यता (विभुत्व) का नाश हो जानेसे 'अहम्' इस प्रत्यक्षप्रत्ययका भी अपलाप हो जायगा ॥ ३३ ॥

तथैव शास्त्रे मनसोऽपि तत्त्वं
जीवात्मनोप्यस्ति तथात्वमत्र ।
अणुद्वयोर्योगमुपेत्य कस्माद्
द्रव्यान्तरारम्भ उदेतु नात्र ॥ ३४ ॥

किंच शास्त्रोंमें मनको भी अणुपरिमाणवाला माना गया है। और आपके मतसे आत्मा भी अणु है। तब दो अणुओंके संयोगसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति आपके यहाँ क्यों नहीं होती है? ॥ ३४ ॥

तथेन्द्रियैर्यर्हि मनश्च पृङ्क्ते
तदात्मना योगवियोजनेन ।
ज्ञानोदयो नापि भवेच्च तस्मा-
त्तद्व्यापकत्वं परिपक्वमेव ॥ ३५ ॥

किंच जिस समय इन्द्रिय और मनका संयोग होगा, उस समय आत्मा और मनका संयोग नष्ट होगा। तब तो कभी किसी वस्तुका आत्माको ज्ञान भी नहीं होना चाहिये। अतः उसे विभु मानना ही उचित है ॥ ३५ ॥

इत्थं स्वपक्षं निपुणं समर्थ्य
स पण्डितो मौनपदं प्रपेदे ।
तदा प्रसन्नो विहसन्मुनीन्द्रो
विभिन्नवान्स्वाननमौनमुद्राम् ॥ ३६ ॥

इस प्रकार सत्यमूर्ति विस्तारपूर्वक अपना पक्ष समर्थन करके चुप हो गये, तब प्रसन्न होकर हँसते हुए श्रीस्वामीजी बोले ॥ ३६ ॥

विद्वँस्त्वदुक्तं विशदं समस्तं
विचारचारु प्रतिभाति नो मे ।

तत्तन्निरासे स्वमनो दधामि
निशामय स्वस्थमना मनाक्त्वम् ॥३७॥

हे विद्वन्! आपने जो कुछ कहा वह विचार करनेसे मुझे युक्त प्रतीत नहीं होता है। अतः मैं उसका खण्डन करता हूँ। आप स्वस्थ होकर सुनें ॥ ३७ ॥

यद्यस्ति जीवो विभुरेव नाणु-
स्तदा समस्तेन्द्रियमानसाद्यैः।
संयोग एवास्य भवेदवश्यं
मूर्तस्य संयोगितया समेषाम् ॥३८॥

यदि जीव विभु है तब तो सकलमूर्तद्रव्यसंयोगी होनेके कारण समस्त इन्द्रिय और मन आदिके साथ उसका अवश्य संयोग ही बना रहेगा, वियोग तो कभी हो ही नहीं सकता ॥ ३८ ॥

एवं स्थिते साक्षर सर्वभोगे
सर्वस्य बाधं न विभावयामः।
भोगस्य नैयत्यमवश्यमेवं
प्रत्यात्ममस्माच्च्यवनं प्रयाति ॥३९॥

जब ऐसा मान लिया तो हे साक्षर! सब सबका भोग कर सकेंगे। इसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है। तब तो प्रत्यात्मनियतभोगकी सर्वथा अनुपपत्ति ही हो जावेगी ॥ ३९ ॥

युक्तं च चैतद्भवतीतितर्को
यत्रैव देशे मनसश्चितश्च।
उदेति संयोग उदेति तत्र
भोगस्ततो नास्त्युपपत्त्यभावः ॥४०॥

कदाचित् आप यह कहें कि 'विशेषविभुगुणानामसमवायिकारणप्रादेशिकत्वनियमः' अर्थात् विशेष जो विभुके गुण हैं वह असमवायिकारणके प्रदेशमें रहते हैं इति तर्को भवति = ऐसा नियम है। इस नियमके अनुसार यद्देशावच्छेदेन आत्ममनःसंयोग होगा तद्देशावच्छेदेन ही भोग भी होगा। अतः आत्माके विभु होनेपर भी नियतभोगानुपपत्तिरूप दोष नहीं प्रसक्त होता तो युक्तं न चैतत् = यह कथन ठीक नहीं ॥ ४० ॥

अस्त्येव दोषो मयका प्रदत्तोऽ-
प्रयोजकत्वान्नियमस्य तेऽस्य।
पादे सुखं मेऽसुखमस्ति मूर्ध्नि
ज्ञानं यथेदं विलसत्यजस्रम् ॥४१॥

तथैव मे चैत्रतनौ सुखं च
दुःखं तथा मैत्रतनाविति स्यात्।
एकस्तवात्मास्ति च सर्वदेशे
ज्ञानं तथा तत्समवेतमेव ॥४२॥

क्योंकि आपके इस नियमके अप्रयोजक होनेसे मैंने जो नियतभोगानुपपत्तिरूप दोष दिया है वह ठीक ही है। किंच जिस प्रकारसे 'पादे मे सुखं, शिरसि मे वेदना' 'मेरे पगमें सुख है और शिरमें वेदना है' यह ज्ञान होता है उसी प्रकारसे मेरे चैत्रशरीर में सुख और मैत्रशरीरमें दुःख है यह भी ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि आपके एक आत्माके सर्वत्र होनेसे तत्तत् मनःसंयोगादिदेशमें उत्पन्न हुए ज्ञान एतदात्मसमवेत हो सकते हैं। यहाँ एक दूसरा दोष यह भी होगा कि तत्तत् मनके साथ तत्तत् अनुव्यवसायके निराबाध होनेके कारण सर्व आत्माओंको सर्वज्ञत्वापत्ति प्राप्त होगी। इष्टापत्ति कर नहीं सकते क्योंकि कोई प्रमाण नहीं है ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्याच्चेददृष्टादि समाश्रयेण
स्वदेहमात्रे नियतः स भोगः ।
नित्यत्वमेवं च विभुत्वमस्य
क्षीणं च जैनं मतमाद्रियेत ॥४३॥

यदि किसी अदृष्टादिको प्रतिबन्धक स्वीकार करके स्वशरीरमात्रावच्छेदेन भोग अङ्गीकार करोगे तब तो जैन मतके समान देहपरिमाणवाद प्राप्त होगा। और ऐसा माननेसे आत्माका नित्यत्व और विभुत्व दोनोंको ही आपको तिलाञ्जलि देनी होगी ॥ ४३ ॥

अतस्तयोर्निर्वहणं विधातुं
देहान्तरीयोऽपि स भोगराशिः ।
अस्य त्वया स्वीकरणीय एवं
प्रत्यक्षतः स्यात्सुतरां विरोधः ॥४४॥

अतः इन दोनों नित्यत्व और विभुत्वका निर्वाह करनेकेलिये शरीरान्तरावच्छिन्नभोग भी अवश्य आपको स्वीकार करना होगा। परन्तु ऐसा माननेसे प्रत्यक्षका विरोध होगा। सबको सर्वज्ञतापत्ति प्राप्त होगी। त्रैलोक्यसङ्करापत्ति भी प्राप्त होगी। अतः उभयतः पाशारज्जु है ॥ ४४ ॥

भुक्ते फले मैत्रशरीरतोऽपि
भुक्तं मयेत्यन्यशरीरकस्य ।
तस्य स्मृतिः स्यादथ केन वार्या
जागर्ति नो कोपि निवारकोस्याः ॥४५॥

किंच मैत्रशरीरावच्छेदेन फलादि भक्षण करनेपर मैत्राद्यन्यशरीरावच्छिन्न आत्माका 'अहं फलं भक्षितवान्' 'मैंने फल खाया' इस स्मरणापत्तिको कौन निवारण करेगा ? कोई इसका वारक नहीं है ॥ ४५ ॥

स्मृतेस्तथास्या हि चितोनुभूते-
रेकप्रदेशत्वमपेक्षितं नो ।
स्पृष्टस्य दृष्टस्य च चक्षुरादि
स्मृतिश्चकास्तीति विहाय दृष्टम् ॥४६॥

कदाचित् आप अनुभव और स्मरण दोनोंका एक प्रादेशिकत्वनियम मानकर निर्वाह करें तो वह भी असङ्गत है। क्योंकि 'नेत्राभ्यामद्राक्षम्' 'कराभ्यामस्पृशम्' 'नेत्रोंसे मैंने देखा,' 'हाथोंसे मैंने स्पर्श किया' इत्यादि स्मरण स्वजनकानुभवदेश नेत्रादिको छोड़कर हृदयमें उत्पन्न होते हैं। अनुव्यवसाय भी ऐसा ही होता है कि 'यमद्राक्षं तमन्तः स्मरामि।' जिसको मैंने देखा है उसीका हृदयमें स्मरण करता हूँ ॥ ४६ ॥

न चैकदेहत्वमपीह शक्यं
वक्तुं तयोः पूर्वजनेः स्मृतेश्च ।
देहान्तरे दृश्यत एव तस्मा-
द्दोषः प्रदत्तस्तदवस्थ एव ॥४७॥

ऐसे ही अनुभव और स्मरणको एकशरीरवच्छेद्यत्व नियम भी नहीं कर सकते। क्योंकि पूर्वजन्मीय अनुभव, जन्मस्मरण पूर्वशरीरके बिना भी शरीरान्तरमें देखा जाता है। अतः मेरा दिया हुआ दोष तदवस्थ है ॥ ४७ ॥

अदृष्टतो यो नियमोऽभ्यधायि
तस्योपपत्तिर्न तु संगता स्यात् ।
यतो नियम्यत्वमथास्य यत्नै-
स्तस्यापि चिन्मानससन्निकर्षैः ॥४८॥

और जो आपने अदृष्टनियमका स्वीकार किया है उसकी उपपत्ति भी

नहीं हो सकती। क्योंकि अदृष्ट तो कर्म—यत्ननियम्य हैं और यत्न आत्ममनःसंयोगनियम्य है ॥ ४८ ॥

तत्सन्निकर्षस्य मनःसु सत्त्वा-
जीवात्मनां सर्वजुषां समेषाम् ।
एवं च सर्वेषु हि तस्य सत्त्वा-
द्दोषो विभुत्वे विभुरेव तिष्ठेत् ॥४९॥

और वह संयोग सब आत्माओंका सर्व आत्माओंके मनमें होनेके कारण सबमें सब अदृष्टकी प्राप्ति होगी। अतः आत्माको विभु मानने-में दोष भी विभु ही होगा ॥ ४९ ॥

विलक्षणश्चेत्तव सन्निकर्षः
स चापि चेऽद्यापि न सिद्धभूतः ।
यावत्तथात्वं नहि कारणे स्या-
त्संयोगएवात्र भवेत्कथं तत् ॥५०॥

कदाचित् आप विलक्षण मनःसंयोगादि मानकर निर्वाह करना चाहें तो वह तो अभी तक असिद्ध ही है। जब तक आप कारणमें वैलक्षण्य स्थापन न कर लें तब तक मनःसंयोगवैलक्षण्य अशक्य है ॥ ५० ॥

कार्य्यैककल्प्यं यदि मन्यसे त-
त्तथास्तु तच्चाप्यहमभ्युपैमि ।
परन्तु तन्नैव भवेदकस्मा-
दतश्च हेतुर्वचनीय एव ॥५१॥

यदि कार्य देखकर वैसी कल्पना उचित मानते हों तो वैसा आप मानिये। मैं अभ्युपगम करता हूँ; परन्तु वह आकस्मिक तो नहीं हो सकता। अतः उसका कोई कारण तो अवश्य कहना चाहिये ॥ ५१ ॥

अभावतोऽन्यस्य च कारणस्य
स्यादाश्रिता चेत्परमेश्वरेच्छा ।
तत्सन्निकर्षेऽथ विलक्षणत्व-
हेतुर्विपश्चिच्छृणुयास्तदेति ॥५२॥

अशक्य होनेसे अन्य कारण तो कह नहीं सकते। अन्तमें यदि परमेश्वरकी इच्छाको ही उस विलक्षणसंयोगमें आप कारण स्वीकार करें तब तो एक हमारी बात सुनें ॥ ५२ ॥

भुङ्क्तामयं नो इतरे मनुष्या
अनेन चारोहतु कर्मणास्य ।
अदृष्टमित्यादि विभुत्वपक्षे
नियम्यते सूक्ष्ममते यथैव ॥५३॥

हे सूक्ष्ममतिवाले! 'यह भोग करे, अन्य नहीं' 'इस कर्मसे इसका ही अदृष्ट उत्पन्न हो, अन्यका नहीं' इत्यादि नियम जैसे आप विभुपक्षमें स्वीकार करते हैं—॥ ५३ ॥

देशान्तरस्थं फलभोगराशिं
भुङ्क्तामयं जीव इहेत्थमेव ।
अणुत्वपक्षेऽपि कथं न तात
नियम्यतेऽतीत्य जघन्यवादम् ॥५४॥

वैसे ही देशान्तरमें उत्पन्न हुए भोग्य वस्तुको 'अयमनेन प्रकारेण भुङ्क्ताम्' 'यह अमुक पुरुष अमुक प्रकारसे भोग करे' यह नियम अणुपक्षमें भी स्वीकार करके इस जघन्यवाद—विभुवादको क्यों नहीं छोड़ देते!

अणुत्वमेषां यदि संगिरेत
प्रत्यक्षतां याति सुखादि नैव ।
इदं न चेत्स्वीक्रियते त्वया त-
त्प्रत्यक्षितं स्यात्परमाणुरूपम् ॥५५॥

सत्यमूर्ति बोले कि महाराज ! यदि आत्माको अणु मानेंगे तो सुखादि प्रत्यक्ष न होंगे । 'अणुप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति महत्त्वसमानाधिकरणस्य तन्त्रत्वात्' और यदि आप ऐसा नहीं स्वीकार करेंगे तो परमाणुरूपका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये ॥ ५५ ॥

तन्त्रत्वतस्तत्र हि योग्यताया
न स्यात्समीचीनमिदं वचस्ते ।
विभुत्ववादेऽथं कथं ह्यदृष्ट-
प्रत्यक्षतापत्तिरियं च न स्यात् ॥५६॥

श्रीस्वामीजीने कहा, इस विषय में योग्यताकी नियामकता अवश्य माननी पड़ेगी । नहीं तो विभ्वात्मवादमें भी अदृष्टादिकी प्रत्यक्षत्वापत्ति दुर्निवार हो जायगी । क्योंकि वहाँ तुम्हारे मतमें महत्त्वसमानाधिकरण तो है ही । इस युक्तिसे 'अणुगुणानामतीन्द्रियत्वनियमः' का भी समाधान हो गया ॥ ५६ ॥

अण्वोस्तयोः प्राप्य च सन्निकर्षं
द्रव्यान्तरं नापि जनिष्यते ऽत्र ।
वैजात्यतस्तादृगयं च पक्षः
श्रुतेर्विरोधात्सुतरां प्रहेयः ॥५७॥

और जो आपने कहा था कि अणुद्वयके संयोगसे द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? उसका उत्तर यह है कि सजातीय अणुद्वयके संयोगसे

द्रव्यान्तरकी उत्पत्तिका स्वीकार किया गया है। यहाँ तो आत्मा और मन दोनों विजातीय हैं। किंच, अणुद्वयसंयोगसे द्रव्यारम्भपक्ष श्रुतिविरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है ॥ ५७ ॥

न ज्ञप्त्यनुत्पत्तिरिहास्ति दोष
आत्मा मनोयोगमुपैति वो हि ।
ज्ञानप्रसूत्या निखिलं प्रसिद्ध्ये-
द्धिद्धस्ततोऽणुत्वमदुष्टमस्य ॥५८॥

और आपने जो यह कहा था कि इन्द्रिय और मनःसंयोगकालमें आत्ममनःसंयोगके अभावमें ज्ञानकी अनुपपत्ति होगी सो भी कोई दोष नहीं है। क्योंकि आत्मा स्वधर्मभूतज्ञानद्वारा उस कालमें भी मनके द्वारा संयोग स्थिर रख सकेगा। अतः आत्माका अणुत्व निर्दुष्ट है ॥५८॥

इत्येवं सिततर्ककर्कशशरैराशीर्य योगीश्वरो,
वाचं तस्य विमोहनीमृजुधियां वादीभकण्ठीरवः ।
पन्थानं निबिडान्धकारनिचयप्रच्छन्नमाशोध्य तं,
धर्म्यं धर्मविभाकरो विजयते त्रैविद्यचूडामणिः ॥५९॥

श्रीस्वामीजी महाराज इस प्रकारसे तीक्ष्ण तर्करूपकठोरवाणी से उस सत्यमूर्ति विद्वान्की बालमोहिनी युक्तियोंको टुकड़े-टुकड़े करके घोर अन्धकारके समूहमें छिपे हुए वैदिकमार्गको शोधकर सर्वोत्कर्षेण विराजमान हो रहे हैं ॥ ५९ ॥

अधिमहि नरलीलां नाटयन्तं मुनीन्द्रं,
सुरवरवरिवस्यातोषितं स द्विजेन्द्रः ।
श्लथितविचितगर्वो बद्धपाणिः प्रणम्य,
गृहगमनमयाचीत्प्रस्खलद्धारतोकः ॥६०॥

पृथ्वी ऊपर मनुष्यलीला करते हुए देवताओंकी सेवासे सन्तुष्ट मुनीन्द्र श्रीस्वामीजीको प्रणाम करके गलितगर्व होकर गद्गदस्वरवाले उस द्विजेन्द्र सत्यमूर्तिने हाथ जोड़कर घर जानेकी आज्ञा मांगी ॥ ६० ॥

अतिमुदितमनाः श्रीयोगिवर्यो बभाषे,
परिहर बुध खेदं मावमंस्था निजं त्वम् ।
उपविबुधसरस्वत्यद्य वासं विधाय,
पटुवटुभिरुषस्यादर्शिताध्वा प्रयाहि ॥६१॥

स्वामीजी बोले कि हे विद्वन्! खेदका परित्याग करो। अपने आपका तिरस्कार मत करो। तथा आज श्रीगङ्गाजीके तटपर निवास करके कल प्रातःकाल आप जावें। हमारे चतुर ब्रह्मचारी आपको मार्ग बता देंगे ॥६१॥

इतिमुनिवरवाचं विप्रवर्योभिमत्य,
यतिकुलपतिनासौ सार्धमाराद्दिनान्ते ।
सुरसरिदुपकण्ठं प्राप्य सान्ध्यं विधानं,
विधिवदभिविधाय श्रीमठं तं जगाम ॥६२॥

सत्यमूर्तिने श्रीस्वामीजीकी आज्ञाको स्वीकार करके उनके साथ सायङ्कालमें समीप ही गङ्गाजीके तटपर जाकर अपनी सन्ध्याविधि समाप्त करके श्रीमठको लौट आये ॥ ६२ ॥

तरणिरपि निपीयापर्चितो विप्रवृन्दैः,
सुरसरिदमृतौघं दत्तमर्घ्यैर्विशुद्धम् ।
स्वरुचिमधिविभावस्वास्य तूर्णं प्रतीचीं,
ककुभमभिलषन्नालिङ्गितुं स प्रतस्थे ॥६३॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते

श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये षोडशः सर्गः ।

भगवान् सूर्य भी ब्राह्मणोंके दिये हुए अर्घ्यजलको पान करके, अग्निमें अपनी प्रभाका स्थापन करके पश्चिम दिशाको आलिङ्गन करनेकी इच्छासे शीघ्र प्रयाण कर गये ॥ ६३ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराजपरमहंसपरिव्राजकस्वामि-
श्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये
स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां षोडशः सर्गः ।

अथ सप्तदशः सर्गः

अहर्मुखे यतिश्रेष्ठः कृतनित्यविधिर्मुदा ।
नभो रविरिवोत्तुङ्गं स्वमासनमशिश्रियत् ॥ १ ॥

जैसे सूर्य भगवान् प्रातः ऊँचे आकाशमें विराजते हैं वैसे ही नित्य-क्रियाके पश्चात् श्रीस्वामीजी अपने उच्चासनपर विराजमान हुए ॥ १ ॥

परितस्तं त्रयीनाथं ब्रह्मवर्चसशालिनम् ।
लसदभ्यर्च्यवर्चस्काः शिष्याः सर्वेऽप्युपाविशन् ॥ २ ॥

श्रीस्वामीजीके चारों ओर तेजस्वी शिष्य बैठ गये ॥ २ ॥

तेषां सुरसुरानन्दस्तत्त्वार्थानां बुभुत्सया ।
दश प्रश्नांस्तदा तेने यतेरग्रे कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

शिष्योंमेंसे श्रीसुरसुरानन्दजीने स्वामीजीसे १० प्रश्न पूछे ॥ ३ ॥

तत्त्वं किं किं च जप्यं स्याद्वैष्णवैर्ध्येयमत्र किम् ।
मोक्षस्य सद्गुरो किं स्यात्साधनं परमोत्तमम् ॥ ४ ॥